।। श्रीहरिः शरणम्।।

वैश्विक ग्रंथों का निचोड़

साधन निधि

मानव जीवन का सार

रामसुखदासजी महाराज ने यह विलक्षण पुस्तक सैंकड़ों साधकों को लाल पेन्सिल के टुकड़ों के साथ पढ़ने को दी थी। नाम-प्रेमी को भी वे आग्रहपूर्वक 'साधन-निधि' देते थे।

स्वामी शरणानन्दजी महाराज

शरणानन्दजी की वाणी के प्रति 10 सन्तों के विचार

1. गोविन्ददेव गिरिजी महाराज एवं गुरु सत्यमित्रानन्दजी– (19-07-2023 सायं)

शरणानन्दजी की बातें वेदव्यासजी का जूठन नहीं है। जहाँ से उपनिषद आये वहीं से शरणानन्दजी के वाक्य आते हैं। जीवनभर एक भी ग्रन्थ न पढने वाले ये महात्मा, जिनके एक-एक वाक्य पर ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं।

2.पथमेड़ा महाराजजी गौ-ऋषि दत्तशरणानन्दजी– (9-8-2023, 27-9-2023)

इतना सरल, स्पष्ट, सूत्रात्मक, साफ '**सत्य**' शरणानन्दजी की वाणी से पूर्व किसी से प्रकट नहीं हुआ। कलियुगी जीवों के लिए आवश्यक यह वाणी है। देश और दुनिया की मानव जाति के उत्थान का अपूर्व सन्देश है। यह अनुपम वाणी सभी दर्शनों का सार भी है, सभी दर्शनों से श्रेष्ठ भी है।

3. मलूकपीठाधीश्वर श्रीराजेन्द्रदासजी महाराज – (राजकोट वार्तालाप 07-05-2015)

आज वर्तमान के समय में सन्तों के जो सद्विचार हैं वे ही मनुष्य को वास्तविक शान्ति प्रदान कर सकते हैं और उनमें श्रीशरणानन्दजी महाराज इस युग के विचारक सन्तों में सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे। जो प्रेमी होगा वह ही विचारक होगा। प्रेम के बिना विचार की शक्ति उत्पन्न नहीं होती है और वह प्रेम वही प्रेम है जो ईश्वरीय प्रेम है।

4. Dr. Satinder Dhiman (Ph. D., Ed.D. - U.S.A.)

All the darshans /philosophies of the world on one side, and Sharnanandji's darshan on one side. He is certainly the most **"Unique"** and **"Original"** of all thinkers and saints. If his ideas become truly known, it will certainly create a **"Revolution"** in the world !

5. स्वामीनारायण सन्त ज्ञानजीवनदासजी– (सागर कथा-15.3.2013)

स्वामी शरणानन्दजी का साहित्य पढ़ने जैसा है। जैसे बड़े-बड़े भारतीय ऋषि मुनि हो गये, आर्षद्रष्टा हो गये, वैसे वे आज के आर्षद्रष्टा ऋषि हैं। उनकी बातें '**सातवाँ दर्शन**' जैसी अद्भुत हैं।

6. स्वामी अनुभवानन्दजी सरस्वती– (व्यावहारिक गीता-5 से)

शरणानन्दजी का जीवन पढ़ो आप, उन्होंने कोई पढ़ाई नहीं की थी, वे प्रज्ञाचक्षु थे। उनके एक-एक जो अनुभव हैं, उसको आप '**पाँचवा वेद**' कह सकते हैं, इतने श्रेष्ठ अनुभव हैं।

7. स्वामी अखण्डानन्दजी सरस्वती – (मोरारी बापू, मानस सुरधेनु, 20/11/2012)

मिलावट वाला वेदान्त सुनना है तो हमारे पास आओ और शुद्ध, विशुद्ध, दो टूक वेदान्त सुनना है तो स्वामी शरणानन्दजी के पास जाओ।

Videos of all above quotes are available on youtube a/c "Santo Ka Khazana"

For Books & Pravachans refer - www.swamisharnanandji.org

।। श्रीहरिः शरणम् ।।

शरणानन्दजी महाराज की अनूठी पुस्तक

साधन-निधि

"जब शास्त्र के या परमात्मा के नाम पर आने वाली पीढ़ी भटकेगी तो परमात्मा का नाम लिए बिना और किसी धर्म विशेष का नाम लिए बिना **'मानवता'** की प्रतिष्ठा कर देना शरणानन्दजी की अपनी विशिष्टता है।"

एक में ही सब कुछ,
सब कुछ में एक ही ...

'मानव-सेवा-संघ के साहित्य का प्रचार अपने-अपने ढ़ंग से, जिसको जैसा ढ़ंग प्रिय हो, करे। वास्तव में तो मानवमात्र की अनुभूति ही मानव-सेवा-संघ का साहित्य है।' – शरणानन्दजी (पाथेय-१०३)

इस प्रकाशन का पावन ध्येय शरणानन्दजी महाराज के अकाट्य दर्शन का प्रचार-प्रसार करना है, जो मानव-मात्र की अमूल्य निधि है।

प्रकाशक :

करनाल मानव सेवा संघ

करनाल–132001 (हरियाणा)
प्रेममूर्तिजी (करनाल): 94164 67999
दुलीचंदजी (करनाल): 79888 86115
प्रेमानंदजी (गुजरात): 93279 06279
www.swamisharnanandji.org

स्वीकृति एक बार
पुकार बार–बार

हे नाथ! मैं जैसा भी हूँ, आपका हूँ।
–यह स्वीकृति है।
हे नाथ! मैं आपको भूलूँ नहीं।
–यह पुकार है।

संस्करण : सन् 2024 ई.

मूल्य : ₹ 25

अब इन्टरनेट पर भी सत्संग का लाभ लें
कभी भी! कहीं भी!!
www.swamisharnanandji.org
श्री शरणानन्दजी महाराज के
प्रवचन सुनें–साहित्य पढ़ें

पुस्तक–प्राप्ति–स्थान :

- **धार्मिक साहित्य सदन**
  बुलियन बिल्डिंग, हल्दियोंका रास्ता
  जौहरी बाजार, **जयपुर**–302003 (राजस्थान)
  Phone : 0141–257 0602, 402 4444
- **श्रीहरिः भण्डार**
  श्रीजगद्गुरु आश्रम
  श्रीगोविन्ददेवजी मन्दिर के पास, **जयपुर**
  Mo.(Whatsapp) : 93141 77033

साधन–निधि पुस्तक की विलक्षणता यह है कि इसकी प्रूफरीडिंग श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज ने स्वयं की थी।

परिचय

'साधन-निधि' साध्य का स्वभाव और साधक का जीवन है। इसमें मानव-जीवन के दर्शन और उस पर आधारित अध्यात्म-विज्ञान, आस्तिक-विज्ञान एवं कर्त्तव्य-विज्ञान के विवेचन का सार लेकर यह दिखाया गया है कि मानव-जीवन की सर्वश्रेष्ठ निधि क्या है, जिससे उसे सम्पन्न होना है।

साधक में यह प्रश्न उठता है कि मुझे क्या करना है। उसी प्रश्न का उत्तर है 'साधन-निधि', जिसमें साधक-मात्र के लिए अनिवार्य बातों को एक जगह पर सिलसिलेवार ढंग से प्रस्तुत कर दिया गया है। साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक उन्हें ग्रहण करके साधन-निधि से सम्पन्न हो सकता है।

निजी अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि तीन प्रकार की सत्ताओं से हमारा परिचय है-

(1) अपनेपन का भास मुझ में है।

(2) प्रतीत होने वाले दृश्य का प्रत्यक्षीकरण करने वाला 'मैं' हूँ।

(3) समस्त उत्पत्ति के मूल में कोई अनुत्पन्न तत्त्व है। उसको बिना देखे, बिना जाने, उसमें आस्था रखने वाला 'मैं' हूँ।

अपनेपन का भास पहली ज्ञानात्मक क्रिया है। इसी पर आधारित है, प्रतीति का प्रत्यक्षीकरण और सुने हुए प्रभु की सत्ता की स्वीकृति। इस प्रकार 'मैं' का जगत् और जगत्पति दोनों से सम्बन्ध है।

यह एक विचित्र बात है कि मानव-जीवन की सारी समस्याएँ इन्हीं सम्बन्धों की विकृति से उत्पन्न होती हैं। 'जगत्' जो अपना मानने योग्य नहीं है, उसको अपना मानने से जड़ता, आसक्ति, बन्धन, पराधीनता और मृत्यु का भय सताता है और जगत्-पति जो अपने हैं, उनको अपना न मानने से अनाथपन, नीरसता और खिन्नता आती है। ठीक इनके विपरीत यदि जगत् को अपना मानना छोड़ दें तथा जगत्पति को अपना मान लें,

तो सर्वतोमुखी विकास आरम्भ हो जाता है। विकसित जीवन ही सबके लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

प्रस्तुत निबन्ध में जीवन को अपने लिए, जगत् के लिए तथा जगत्पति के लिए उपयोगी बनाने वाले ग्यारह व्रतों की आवश्यकता बताई गई है, जो निम्नलिखित हैं–

(क) जीवन को अपने लिए उपयोगी बनाने के उपायः–

1. भूल–रहित होना,
2. निर्मम होना,
3. कामना–रहित होना,
4. अधिकार–लिप्सा से रहित होना,
5. अहंकृति–रहित होना।

(ख) जीवन को जगत् के लिए उपयोगी बनाने के उपायः–

1. किसी के साथ बुराई न करना,
2. किसी को बुरा न समझना,
3. किसी का बुरा न चाहना।

(ग) जीवन को प्रभु के लिए उपयोगी बनाने के उपायः–

1. सुने हुए प्रभु की सत्ता स्वीकार करना,
2. श्रद्धा एवं विश्वास करना,
3. आत्मीयता का सम्बन्ध स्वीकार करना।

(घ) उपसंहार।

उपर्युक्त तीनों खण्डों के प्रत्येक व्रत की विस्तृत व्याख्या की गई है, जिससे उनके पालन की अनिवार्यता और व्यावहारिकता स्पष्ट रूप से मालूम हो जाए। इन्हीं व्रतों को 'साधन–निधि' के नाम से कहा गया है। वस्तुतः ये व्रत सभी साधकों के लिए सभी साधनों के निचोड़ के रूप में प्रस्तुत हैं, जो सभी के जीवन को सभी के लिए उपयोगी बनाने में समर्थ हैं।

कभी–कभी साधक अपने जीवन के लक्ष्य को ही निर्धारित करने में कठिनाई अनुभव करने लगता है, क्योंकि लक्ष्य की अपूर्ति की दशा में लक्ष्य–पूर्ति के जीवन का अनुभव तो होता नहीं, अपनी माँग के आधार पर लक्ष्य को बिना देखे, बिना अनुभव किये, स्वीकार करना पड़ता है। दुःखी के लिए दुःख निवृत्ति, अशान्त के लिए शान्ति, पराधीन के लिए स्वाधीनता, बद्ध के लिए मुक्ति और नीरस के लिए प्रभु–प्रेम की सरसता समान रूप से अनजान तत्त्व रहते हैं। उस दशा में कोई साधक यदि उलझन में पड़ा हो कि मानव–जीवन के लक्ष्य के रूप में किस तत्त्व को स्वीकार करना चाहिए, तो 'साधन–निधि' उसका स्पष्ट मार्ग–दर्शन करा सकती है। केवल एक वाक्य 'जीवन अनुपयोगी न रहे, अर्थात् सभी के लिए उपयोगी हो जाए', लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लेना पर्याप्त हो जाता है। इस लक्ष्य को दृष्टि में रखकर जिस साधन–निधि से सम्पन्न होने की अनिवार्यता बताई गई है, उसके व्रतों को अपनाने के बाद साधक अपने कल्याण एवं सुन्दर समाज के निर्माण में समर्थ होता है। अपने कल्याण के रूप में उसका अहम् अभिमान से शून्य एवं हृदय प्रेम से परिपूर्ण होकर कृतकृत्य हो जाएगा। इस प्रकार के विकसित जीवन से सेवा के द्वारा सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होने लगता है। सारांश यह कि सेवा, त्याग और प्रेम, जो मानव–जीवन का सुन्दरतम चित्र है, उसका यह मूर्तिमान प्रतीक हो जाएगा।

'साधन–निधि' सब दार्शनिक दृष्टिकोणों एवं सब साधन–प्रणालियों का वह व्यावहारिक रूप (Practical Form) है, जिसे प्रत्येक साधक को अपनाना अनिवार्य है। 'साधन–निधि' एक ऐसा निबन्ध है कि विकास के किसी स्तर के साधक को अपना अगला कदम दिखाई देता है और उसे अपनाकर वह आगे बढ़ सकता है।

जगत् को सत्य मानें, मिथ्या मानें, परिवर्तनशील मानें, इससे कोई अन्तर नहीं आता। कुछ भी मानें, साधक की मौज; पर किसी भी दृष्टि से उसके प्रति ममता और कामना–युक्त सम्बन्ध रखना भूल है। निर्मम और

निष्काम होकर उसकी सेवा करना अनिवार्य है। जगत् की सबसे बड़ी और व्यापक सेवा के रूप में साधक क्या कर सकता है, जिससे कि उसका जीवन जगत् के लिए उपयोगी हो जाय! इस विषय पर बहुत ही वैज्ञानिक एवं दार्शनिक तथ्यों पर आधारित अपूर्व सिद्धान्तों का प्रतिपादन एवं उनकी व्याख्या की गई है, जिससे उनका अनुसरण सरल हो जाय।

उसी प्रकार ईश्वर कैसा है, कहाँ है, क्या करता है- इस सम्बन्ध में भी अनेक मतभेद हो सकते हैं और होते हैं! कोई साधक विश्वास के अनुसार कुछ भी माने, उससे कुछ अन्तर नहीं आता। उसकी सत्ता की स्वीकृति, श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक उससे अपनी आत्मीयता स्वीकार कर, उसके शरणागत हो जाना, उसी के दिए हुए प्रेम से उसको रस प्रदान करना, जीवन को उसके लिए उपयोगी बनाने का अचूक उपाय है।

अतः यह निबन्ध साधन में सफलता के लिए एक हस्त-पुस्तिका (Manual) के रूप में प्रस्तुत है। बिना और कुछ पढ़े भी इसका अनुसरण किया जा सकता है, और बहुत कुछ पढ़ने के बाद भी निचोड़ के रूप में सभी आवश्यक मुख्य बातों को थोड़े में जाना जा सकता है।

मानव सेवा संघ द्वारा मानव-जीवन के जिन मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो चुका है, उन्हीं में से 'साधन-निधि' का निरूपण एक ही निबन्ध में स्पष्ट किया गया है। इस दृष्टि से साधक के लिए सफलता पाने का उपाय अति सुगम बताया गया है। इसके पीछे किसी मनीषी के जीवन के अनुभूत सत्य का आधार है और साधकों की असफलता की पीड़ा की वेदना है। जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से यह निधि हमें उपलब्ध हुई है, उन्हीं की दी हुई सामर्थ्य से इसे अपनाकर, हम लोग सभी के लिए उपयोगी हो जाएँ, इसी सद्भावना के साथ-

विनीता,

देवकी

गीता भवन

23.5.1964

।। श्रीहरिः शरणम्।।

साधन-निधि

मानव-मात्र जन्मजात साधक है। अतः उसे साधन-निधि से सम्पन्न होना अनिवार्य है। मानव उसे नहीं कहते, जिसकी कोई माँग न हो और जिस पर कोई दायित्व न हो। मिले हुए शरीर का नाम ''मानव'' रखना भूल है, कारण कि शरीर कर्म-सामग्री है, और कुछ नहीं।

'मैं हूँ', यह स्वीकृति मानव-मात्र की मूल स्वीकृति है। अपने को अस्वीकार करना सम्भव नहीं है। 'मैं क्या हूँ', इस सम्बन्ध में अनेक मत भले ही हों, पर 'मैं हूँ और मुझ में ही माँग है', इस में दो मत नहीं हैं और यह मानव-मात्र को स्वीकार है।

यह नियम है कि जिसमें माँग होती है, उस पर कुछ-न-कुछ दायित्व भी होता है। इस दृष्टि से जिसमें माँग है, उसी पर दायित्व भी है। माँग की पूर्ति वैधानिक तथ्य है, अर्थात् अनिवार्य है। उससे निराश होना तथा हार मान बैठना, प्रमाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

दायित्व पूरा करने की सामर्थ्य मानव-मात्र में विद्यमान है। दायित्व पूरा करना और माँग की पूर्ति होना युगपत हैं। अतः मानव 'साधक' है, वह अपने साध्य से अभिन्न हो सकता है, यह निर्विवाद सत्य है।

साधक पर दायित्व क्या है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि उसे सत्संग के द्वारा साधन-निधि से सम्पन्न होना है। 'साधन-निधि' साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है। अतः प्रत्येक मानव साधक होने के नाते, साधन-निधि से सम्पन्न होकर, सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है। यही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से मानव-जीवन की बड़ी ही महिमा है।

यह महिमा उसे अपने रचयिता से मिली है। अतः उस महिमावान की

महिमा का कोई वारापार नहीं है, जिसने मानव का निर्माण किया।

मानव अपने को जब तक साधक स्वीकार नहीं करता, तभी तक अनुपयोगी रहता है। इस दृष्टि से मानव-मात्र अपने को साधक स्वीकार करे, यह अनिवार्य है। स्वीकृति के अनुरूप ही प्रवृत्ति सहज तथा स्वाभाविक होती है। 'साधक' की स्वीकृति में असाधन की निवृत्ति तो है ही। अतः असाधन-रहित साधन ही वास्तव में साधन-निधि है।

असाधन के साथ-साथ भासित होने वाला साधन 'साधन' नहीं है। यद्यपि प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी मानव सर्वांश में साधन से रहित तथा असाधन से युक्त हो ही नहीं सकता। किन्तु असाधन रहित 'साधन-निधि' से सम्पन्न प्रत्येक मानव हो सकता है। अतएव 'साधन-निधि' से सम्पन्न होना मानव-मात्र के लिए वर्तमान का प्रश्न है, और वह हल हो सकता है।

अपने लिए उपयोगी होना

मानव-जीवन यद्यपि सभी के लिए उपयोगी है, परन्तु जब तक मानव अपने लिए उपयोगी नहीं होता, तब तक जगत् और जगत्पति के लिए भी उपयोगी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सर्वप्रथम इस बात पर विचार करना है कि हम अपने लिए कब उपयोगी हो सकते हैं!

1. **भूल-रहित होना**– जब तक मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपनी मानता है तथा अपने लिए मानता है, तब तक भूल-रहित नहीं हो सकता। भूल के रहते हुए तो मानव अनुपयोगी ही रहता है। अतः भूल-रहित होना अनिवार्य है।

यह किसी का अनुभव नहीं है कि जिसे जो मिला है, उस पर उसका स्वतन्त्र अधिकार हो जाय; कारण, कि मिला हुआ कहते ही उसको हैं, जो उसका अपना नहीं है।

जो अपना नहीं है, वह अपने लिए हो ही नहीं सकता। उसका उपयोग दाता के नाते, प्रतीत होने वाले जगत् के प्रति ही हो सकता है।

दाता कौन है? इसमें अनेक मत भले ही हों, पर मिला हुआ अपना नहीं है, इसमें दो मत नहीं है। इतना ही नहीं, यदि मिला हुआ अपना होता, तो उस पर अपना स्वतन्त्र अधिकार होता, और यदि अपने लिए होता, तो फिर कोई और माँग शेष न रहती। पर ये दोनों ही बातें अनुभव से सिद्ध हैं कि जो मिला हुआ है, उसके रहते हुए भी अभाव शेष है और उसे जब तक रखना चाहें और जैसा रखना चाहें, रखने की स्वाधीनता भी नहीं है।

अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि मिला हुआ अपना नहीं है, और अपने लिए नहीं है। इस अनुभव-सिद्ध तथ्य को अपनाने का अर्थ निर्मम होने की प्रेरणा देता है। निर्मम होने से मिले हुए के सदुपयोग में कोई बाधा नहीं होती, अपितु सदुपयोग सहज स्वाभाविक हो जाता है, जिसके होते ही सुन्दर समाज का निर्माण अपने-आप होने लगता है।

मिले हुए के दुरुपयोग से ही समाज में संघर्ष होने लगता है। मिले हुए का दुरुपयोग मानव तभी करता है, जब वह उसे अपना और अपने लिए मानता है। यह मान्यता सर्वथा भूल-जनित है। भूल-रहित होना मानव-मात्र के लिए अनिवार्य है; कारण, कि भूल से ही मानव अनुपयोगी हुआ है, और भूल-रहित होने से वह स्वतः सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

किसी भी भूल को अपना लेने पर अनेक भूलें उत्पन्न होती हैं, अथवा यों कहो कि एक ही भूल अनेक रूप धारण कर मानव को अनुपयोगी कर देती है।

भूल प्राकृतिक दोष नहीं है, अपितु मानव अपने अनुभव के अनादर से ही भूल को उत्पन्न करता है। इस कारण भूल-रहित होने का दायित्व मानव ही पर है। यद्यपि मानव के रचयिता ने भूल-रहित होने की सामर्थ्य देकर ही उसका निर्माण किया, फिर भी मानव अपनी ओर नहीं देखता, इस कारण अपनी उत्पन्न हुई भूल में आप आबद्ध हो जाता है।

2. **निर्मम होना**– निर्ममता, जो अनुभव-सिद्ध सत्य है, अकर्त्तव्य की नाशक और कर्त्तव्य की जननी है। कर्त्तव्य-परायणता कर्त्ता को राग-रहित कर देती है और उससे सुन्दर समाज का निर्माण स्वतः होता है। इस दृष्टि

से निर्मम होकर मिले हुए का सदुपयोग करना अनिवार्य है। अथवा यों कहो कि निर्मम हुए बिना, मिले हुए का सदुपयोग सम्भव ही नहीं है।

निर्मम होने की स्वाधीनता स्वयं प्राप्त है। निर्मम होने के लिए किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं है। जिसके लिए किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि की अपेक्षा नहीं होती, उसे मानव स्वयं स्वाधीनतापूर्वक कर सकता है। 'निर्मम' शब्द के उच्चारण में भले ही श्रम तथा काल अपेक्षित हो, पर निर्मम होने में किसी प्रकार के श्रम तथा काल की अपेक्षा नहीं है। अतः मानव स्वयं वर्तमान में ही निर्मम हो सकता है, कारण, कि निर्ममता मानव के निजी-ज्ञान के प्रभाव का परिणाम है।

जिसकी उपलब्धि निजी-ज्ञान से सिद्ध होती है, उसके लिए कोई अभ्यास अपेक्षित नहीं होता। यह ज्ञान की महिमा है।

प्रत्येक मानव को निजी-ज्ञान से यह सिद्ध है कि मिला हुआ शरीर उसका अपना नहीं है और न वह अपने लिए ही है। इस ज्ञान का प्रभाव साधक को अपनाना है।

ममता करने मात्र से ही अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती, अपितु अनेक विकारों की ही उत्पत्ति होती है। विकार-युक्त जीवन किसी को भी अभीष्ट नहीं है। इस दृष्टि से ममता की गन्ध भी साधक के जीवन में नहीं रहनी चाहिए।

अब विचार करना है कि ममता प्राकृतिक दोष है, अथवा अपनी भूल से उत्पन्न होती है? तो यही विदित होता है कि ममता मिले हुए ज्ञान के अनादर से उत्पन्न होती है, प्राकृतिक दोष नहीं है।

जिसने साधक को ज्ञान दिया है, उसने इतनी आत्मीयता से दिया है कि वह ज्ञान साधक को अपना ही मालूम होता है। यद्यपि साधक को जिससे ज्ञान मिला है, उसी से शरीर आदि वस्तुएँ भी मिली हैं; किन्तु वे साधक के अपने लिए नहीं हैं। मिला हुआ ज्ञान ही अपने लिए है।

जब साधक भूल से ज्ञान को अपने लिए न मानकर, मिली हुई योग्यता, वस्तु एवं सामर्थ्य को अपने लिए मानता है, तब ममता उत्पन्न

होती है। इस कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि प्रत्येक साधक निजी-ज्ञान के द्वारा वर्तमान में ही निर्मम हो जाय। निर्मम होते ही स्वतः निष्काम होने की सामर्थ्य आ जाती है। जब मिला हुआ शरीर ही अपना नहीं है, तब किसी भी वस्तु, अवस्था और परिस्थिति की आवश्यकता अपने लिए नहीं रहती।

कामना साधक को किसी-न-किसी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में बाँध देती है। प्राकृतिक नियमानुसार सभी वस्तु, अवस्था, परिस्थिति आदि में सतत् परिवर्तन हो रहा है- यह भी निजी-ज्ञान से ही सिद्ध है। सतत् परिवर्तन में स्थिति स्वीकार करना भूल है। इस भूल से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। किन्तु वैधानिक तथ्य यह है कि सभी कामनाएँ पूरी नहीं होतीं। अतः कामना-पूर्ति में जीवन-बुद्धि स्वीकार करना भूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर ममता के रहते हुए साधक कामना की पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व से रहित नहीं हो सकता है। इस दृष्टि से निर्ममता निजी-विकास की भूमि है, जिसे प्रत्येक साधक स्वाधीनतापूर्वक अपना सकता है।

कुछ साधकों को यह भय होता है कि ममता के बिना शरीर, परिवार, समाज आदि की सेवा कैसे हो सकती है! इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि ममता तो साधक को सेवा से विमुख ही करती है। शरीर की ममता परिवार के हित से, परिवार की ममता समाज के हित से, समाज की ममता देश के हित से और देश की ममता विदेश के हित से विमुख कर देती है। सेवा उसे नहीं कहते, जो सभी के लिए हितकर न हो। अतएव यह स्पष्ट ही सिद्ध है कि ममता ने तो साधक को सेवा से विमुख कर स्वार्थ में, असीम से सीमित में, नित्य से अनित्य में तथा चेतना से जड़ता में ही आबद्ध किया है। अतः यह स्वीकार करना कि ममता के बिना सेवा नहीं हो सकती, भारी भूल है।

जिस ममता ने अपना ही विकास रोक दिया, भला वह दूसरों के लिए हितकर कैसे हो सकती है! अर्थात् उससे दूसरों का विकास हो ही नहीं सकता। इतना ही नहीं, ममता जिसमें उत्पन्न होती है और जिसके प्रति

होती है, दोनों ही के लिए अहितकर है। अतएव ममता का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

निर्मम होने की स्वाधीनता का उपयोग न करना और हार मानकर बैठ जाना सभी साधकों के लिए सर्वथा त्याज्य है। यह वैधानिक तथ्य है कि मिली हुई स्वाधीनता का उपयोग अपने ही को करना होगा।

यह अवश्य है कि कभी-कभी साधक प्रमादवश जो कर सकता है, उसी को करने में अपने को असमर्थ मान लेता है। ऐसी दशा में निर्मम होने की उत्कट लालसा उसे प्रार्थी बना देती है। वैधानिक प्रार्थना की पूर्ति मंगलमय विधान से अवश्य पूरी होती है।

अब रही केवल निर्मम होने की तीव्र आवश्यकता अनुभव करना। इतना ही दायित्व यदि साधक पूरा कर डाले, तो निर्मम होना सहज तथा स्वाभाविक हो जाएगा कारण, कि जब साधक वास्तविकता की ओर अग्रसर होता है, तब समस्त सृष्टि और उसके आश्रय तथा प्रकाशक उसे हर्षपूर्वक अपनाते हैं। इस दृष्टि से साधक के जीवन में हार मान लेने अथवा निराश होने के लिए कोई स्थान ही नहीं है।

अल्प-से-अल्प आयु तथा सामर्थ्य क्यों न रह जाय, वास्तविकता की उत्कट माँग की जागृति में सफलता अनिवार्य है। यह साधक के जीवन की महिमा है, जो उसके रचयिता ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर प्रदान की है। मिली हुई महिमा का आदर करो और उस महा महिमावान को अपना स्वीकार करो, यही सफलता की कुंजी है।

3. **कामना-रहित होना**– ममता का सर्वांश में अन्त होते ही कामनाओं का नाश सुलभ हो जाता है; कारण, कि मिले हुए शरीर और देखे हुए जगत् में जातीय एकता है। जिस धातु से शरीर निर्मित है, उसी धातु से जगत् भी निर्मित है। जब मिला हुआ ही अपना नहीं है, तो फिर प्रतीत होने वाले जगत् की कामनाओं का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं रहता; कारण, कि मिले हुए में अहम्-बुद्धि और मम-बुद्धि स्वीकार करने से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। किन्तु सभी कामनाओं

की पूर्ति नहीं होती। यद्यपि प्रत्येक कामना-पूर्ति के सुख का भोग नवीन कामनाओं को जन्म देता है और अन्त में कामना-अपूर्ति का दुःख ही शेष रहता है। इस दृष्टि से कामनाओं की पूर्ति और अपूर्ति दोनों एक ही सिक्के के दो पहलुओं के समान हैं। इतना ही नहीं, कामना-पूर्ति का सुख मानव को जड़ता में आबद्ध करता है और कामना-अपूर्ति के दुःख से सजगता आती है। यह कैसा अनुपम मंगलकारी विधान है कि जो साधक को जड़ता में आबद्ध रहने ही नहीं देता! कामना-पूर्ति काल में मानव पराधीन होकर भी सुख का अनुभव करता है, यह कैसा प्रमाद है! इस प्रमाद का अन्त करने के लिए ही दुःख का प्रादुर्भाव होता है। किन्तु दुःख के प्रभाव को न अपनाकर, कामना-पूर्ति जनित पराधीनता को बनाए रखने की अभिरुचि, क्या अपने ही द्वारा अपना विनाश करना नहीं है? अवश्य है।

वे शुभ कामनाएँ, जो मिली हुई वस्तु, योग्यता और सामर्थ्य के द्वारा दूसरों के अधिकार की रक्षा में हेतु हैं, उनकी पूर्ति वर्तमान कर्त्तव्य-कर्म द्वारा हो सकती है। किन्तु उसके बदले में अपने लिए कुछ भी चाहिए, तो साधक निष्काम नहीं हो सकता। निष्काम कर्त्ता से ही कर्त्तव्य-पालन होता है। इस दृष्टि से साधक के जीवन में कामनाओं का कोई स्थान ही नहीं है।

कर्त्तव्य-कर्म द्वारा प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग होता है। निष्काम होते ही परिस्थिति के सदुपयोग में किसी प्रकार की असुविधा नहीं होती। कामना-युक्त प्राणी प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता और न अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन से वह मुक्त होता है। इतना ही नहीं, परिस्थितियों की दासता में आबद्ध होकर वह दीनता और अभिमान की अग्नि में दग्ध होता रहता है। यह बड़ी ही शोचनीय दशा है, जो एकमात्र निष्काम होने से ही मिट सकती है। निष्कामता को अपनाते ही प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग करने की तथा अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन से रहित होने की सामर्थ्य स्वतः आ जाती है। इतना ही नहीं, सभी परिस्थितियों, अर्थात् सुख-दुःख से अतीत के जीवन में प्रवेश सहज तथा स्वाभाविक हो जाता है। इस कारण निष्कामता को अपनाना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

भूल से उत्पन्न हुई कामनाओं का अन्त भूल-रहित होने से ही सम्भव है, किसी अभ्यास से कामनाओं का नाश नहीं होता। अभ्यास के लिए तो देह का आश्रय लेना अनिवार्य होता है और देह के आश्रय-मात्र से ही कामनाओं की उत्पत्ति होती है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि तप आदि से कामनाओं का नाश नहीं होता। तप से शक्ति आदि की उपलब्धि होती है, किन्तु निष्कामता एकमात्र सत्संग से ही प्राप्त होती है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिए सत्संग के प्रकाश में अपने को सदैव रखना अत्यन्त आवश्यक है।

सत्संग कोई अभ्यास अथवा तप नहीं है, अपितु साधक का 'स्व-धर्म' है, अर्थात् पराश्रय के बिना अपने ही द्वारा जिसकी सिद्धि होती है, वही 'सत्संग' है। अब विचार यह करना है कि मिले हुए शरीर से अहम्-बुद्धि तथा मम-बुद्धि का त्याग; अथवा आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति; अथवा मिले हुए का दुरुपयोग न करना, क्या प्रत्येक साधक अपने द्वारा स्वयं नहीं कर सकता?

इस दृष्टि से निष्काम होने के लिए साधक को सत्संगी होना परम आवश्यक है। सत्संग की तीव्र माँग प्रत्येक साधक के जीवन में रहनी चाहिए। प्राकृतिक नियमानुसार एक काल में एक ही माँग रहती है। सत्संग की माँग साधक को भूल-रहित होने की सामर्थ्य प्रदान करती है।

निष्कामता एक वास्तविकता है। इस दृष्टि से सत्संग से निष्कामता और निष्कामता से सत्संग स्वतः सिद्ध होता है। कामना असत् का संग उत्पन्न करती है। असत् के संग से ही समस्त विकारों तथा अभावों का जन्म होता है। इस कारण कामनाओं का अन्त करना अत्यन्त आवश्यक है।

कामना-मात्र से किसी इच्छित वस्तु की उपलब्धि नहीं होती। इस दृष्टि से भी साधक के जीवन में कामना का कोई स्थान नहीं है। कामना व्यर्थ-चिन्तन में आबद्ध कर, वर्तमान परिस्थिति के सदुपयोग में बाधक होती है। व्यर्थ-चिन्तन से प्राप्त सामर्थ्य का ह्रास ही होता है, जिसके होने से कर्त्तव्य-कर्म पूरा नहीं हो पाता। कर्त्तव्य की अपूर्ति अकर्त्तव्य की जननी

है। इस दृष्टि से कामनाओं से साधक का ह्रास ही होता है।

कामनाओं के त्याग में कोई परिश्रम नहीं है और न किसी वस्तु, व्यक्ति आदि की अपेक्षा ही होती है। इस कारण कामनाओं का त्याग प्रत्येक साधक के लिए सम्भव है। कामनापूर्ति में पराधीनता है, त्याग में नहीं। स्वाधीनतापूर्वक साधक स्वाधीनता के साम्राज्य में सदा के लिए प्रवेश कर सकता है, किन्तु कामनाओं को रखते हुए पराधीनता कभी नष्ट नहीं होती।

जब साधक को पराधीनता असह्य हो जाती है, तब उसे निष्कामता अपनाने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। पराधीनता, सहन करते रहने से ही कामनाएँ पोषित होती हैं। पराधीनता मानव को चिन्मय-जीवन से विमुख कर जड़ता में आबद्ध करती है। इस दृष्टि से पराधीनता सहन करना भारी भूल है।

स्वाधीनतापूर्वक साधक मृत्यु के भय से रहित हो, अमरत्व से अभिन्न हो सकता है। इतना ही नहीं, स्वाधीन होकर ही साधक उदारता तथा प्रेम से अभिन्न होता है। पराधीन प्राणी के जीवन में न तो उदारता ही आती है, और न प्रेम ही की अभिव्यक्ति होती है। इस कारण पराधीनता का नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र निष्कामता से ही साध्य है।

निष्कामता में ऐश्वर्य है; कारण कि निष्कामता साधक को विश्व-विजयी बना देती है। जिसे कुछ नहीं चाहिए, उस पर संसार विजयी नहीं हो सकता, अर्थात् कामना-रहित होते ही मानव का मूल्य समस्त विश्व से अधिक हो जाता है और वह विश्व के आश्रय तथा प्रकाशक के प्रेम का अधिकारी बन जाता है। कामनायुक्त प्राणी मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि का सदुपयोग नहीं कर पाता। इस कारण वह परिवार, समाज, संसार के लिए अनुपयोगी हो जाता है।

यह सभी को विदित है कि निष्कामता के बिना स्वाधीनता नहीं आती और स्वाधीनता के बिना मानव अपने लिए अनुपयोगी होता है। भला, जिसे कुछ भी चाहिए, वह किसी का प्रेमी कैसे हो सकता है? प्रेम-रहित

जीवन प्रभु के लिए उपयोगी नहीं होता। अतएव कामना मानव को सभी के लिए अनुपयोगी कर देती है।

यह सभी के लिए मान्य है कि कामना की पूर्ति में राग और अपूर्ति में क्रोध की उत्पत्ति होती है। राग मानव को जड़ता में आबद्ध करता है और क्रोध से कर्त्तव्य की, निज-स्वरूप की तथा प्रभु की विस्मृति होती है, अर्थात् वह वास्तविकता से अपरिचित हो जाता है, जो विनाश का मूल है। इस कारण प्रत्येक साधक के लिए शीघ्रातिशीघ्र कामनाओं का नाश करना अत्यन्त आवश्यक है।

यह कैसा आश्चर्य है कि जिसे मानव स्वयं कर सकता है, उसे न करे! क्या यह अपने ही द्वारा अपना विनाश करना नहीं है? अपने विनाश का कारण दूसरों को मानना और अपने द्वारा स्वयं निष्काम न होना तथा अपने और दूसरों के बीच वैर-भाव उत्पन्न करना, क्या साधक की अपनी ही भूल नहीं है? अवश्य है।

निष्काम होते ही निर्वैरता, समता, मुदिता आदि दिव्य गुण स्वतः अभिव्यक्त होते हैं। योग, बोध और प्रेम से विमुख करने में कामना ही हेतु है। निष्कामता से चित्त स्वतः शुद्ध, शान्त तथा स्वस्थ होता है, जिसके होते ही कर्त्तव्यपरायणता तथा योग की प्राप्ति स्वतः होती है। निष्कामता से उदित शान्ति में ही आवश्यक सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है। असमर्थता ही मानव को पराधीनता में आबद्ध करती है, और आवश्यक सामर्थ्य की उपलब्धि से ही पराधीनता का नाश होता है। इस कारण निष्कामता से प्राप्त शान्ति का सम्पादन प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है।

4. अधिकार-लिप्सा से रहित होना– निष्काम होते ही अपने अधिकार के त्याग का बल साधक में स्वतः आ जाता है। अथवा यों कहो कि अधिकार-लोलुपता में मानव को कामना ही आबद्ध रखती है। मानव की स्वाधीनता दूसरों के अधिकार की रक्षा ही में है, अपने अधिकार को पाने में मानव स्वाधीन नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि जो दूसरों के अधिकार की रक्षा करता है, उसके प्रति जगत् की उदारता स्वतः होती है।

इस दृष्टि से अधिकार देने में ही अधिकार है। अधिकार-लोलुपता तो मानव को राग में आबद्ध तथा क्रोध से आक्रान्त करती है, जो विनाश का मूल है।

जब मिले हुए शरीर पर ही अपना स्वतन्त्र अधिकार नहीं है, तो फिर उसी की जाति का जो संसार है, उस पर अधिकार मानना भूल के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता है? हाँ, अपने पर शरीर और संसार का यह अधिकार अवश्य है कि उसके प्रति निर्मम तथा निष्काम होकर उसके हित-चिन्तक बने रहें, अर्थात् आलस्य, अकर्मण्यता, असंयम आदि से शरीर का अहित न करें और शरीर के द्वारा समाज का अहित न करें। यह तभी सम्भव होगा, जब मानव शरीर आदि वस्तुओं को केवल साधन-सामग्री के रूप में ही स्वीकार करें।

सर्व-हितकारी प्रवृत्ति अधिकार-त्याग से ही उदित होती है और सहज निवृत्ति की उपलब्धि भी अधिकार-लोलुपता के नाश से ही सिद्ध होती है। सर्व-हितकारी प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति एक ही जीवन के दो पहलू हैं। उदारता और असंगता अधिकार-त्याग की ही देन है।

उदारता समस्त विश्व के साथ एकता और असंगता देहातीत जीवन से अभिन्नता प्रदान करने में समर्थ है। इस दृष्टि से अधिकार-त्याग की बड़ी ही महिमा है। अधिकार देकर भी अधिकार पाने की अभिरुचि देह से तादात्म्य उत्पन्न कर देती है, जो समस्त दोषों की भूमि है। इस कारण साधक को शरीर, परिवार, समाज आदि से अपना अधिकार हटा लेना चाहिए।

अधिकार हटाने का अर्थ शरीर आदि की उपेक्षा नहीं है, अपितु सभी के प्रति सद्भावना रखते हुए अपने को अधिकार के भार से मुक्त कर, सभी को अभय करना है। अधिकार के भार से दबा हुआ समाज भयभीत होकर स्वयं अधिकार-लोलुपता में आबद्ध हो जाता है। ज्यों-ज्यों अधिकार लोलुपता बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों कर्त्तव्य की विस्मृति होती जाती है और अनेक पारस्परिक संघर्ष उत्पन्न हो जाते हैं। इस कारण

प्रत्येक साधक को शीघ्रातिशीघ्र अपने को अधिकार-लोलुपता से रहित करना अनिवार्य है।

कर्त्तव्यपरायणता, अर्थात् दूसरों के अधिकार की रक्षा से दीर्घकाल के राग की निवृत्ति स्वतः हो जाती है और अपने अधिकार का त्याग करने से नवीन राग उत्पन्न नहीं होता। अतः इस प्रकार साधक बड़ी ही सुगमतापूर्वक राग-रहित हो जाता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है। इस दृष्टि से दूसरों के अधिकार की रक्षा करते हुए भी अपने अधिकार का त्याग अनिवार्य है।

अधिकार के अपहरण होने पर क्रोध से आक्रान्त मानव में विस्मृति उत्पन्न होती है, जिसके होते ही साधक वास्तविकता से विमुख होकर अकर्त्तव्य, देहाभिमान एवं अनेक प्रकार की आसक्तियों में आबद्ध हो जाता है। इस कारण अधिकार के अपहृत होने पर क्षोभ तथा क्रोध से आक्रान्त नहीं होना चाहिए।

यह तभी सम्भव होगा, जब सभी से अपना अधिकार उठाकर, सभी के अधिकार की रक्षा करते हुए, वह लक्ष्य की ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होने के लिए अथक प्रयत्नशील रहे।

अपना लक्ष्य वही हो सकता है, जिसकी उपलब्धि अपने ही द्वारा अपने को हो सके। जब मानव के रचयिता ने उसे अपने लक्ष्य की प्राप्ति की स्वाधीनता दी है, तो फिर उसे शरीर आदि किसी पर भी अपना अधिकार मानना अपेक्षित नहीं है।

अपना अधिकार न मानने पर भी साधक के प्रति समस्त विश्व की उदारता सतत रहती है। पर इसका अर्थ यह नहीं है कि साधक अपने प्रति दूसरों की उदारता बनाये रखने के लिए अपने अधिकार का त्याग करे।

अधिकार का त्याग किये बिना स्वाधीनता के साम्राज्य में साधक का प्रवेश ही नहीं होता और स्वाधीनता के बिना जगत् के प्रति उदारता तथा जगत्-पति के प्रति प्रेम का प्रादुर्भाव होता ही नहीं, जो वास्तविक जीवन है।

यह सभी को मान्य होगा कि उदारता, स्वाधीनता एवं प्रेम की प्राप्ति में ही मानव-जीवन की पूर्णता है। इस दृष्टि से अधिकार-लोलुपता का मानव के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। इतना ही नहीं, बलपूर्वक अथवा माँगने से अधिकार मिलता भी नहीं है। क्या कोई सबल-से-सबल भी अपने प्रति बलपूर्वक प्यार करा सकता है? कदापि नहीं। सबल निर्बल के शरीरादि वस्तुओं का नाश कर सकता है; किन्तु अपने प्रति श्रद्धा, विश्वास तथा आत्मीयता बलपूर्वक नहीं प्राप्त कर सकता।

अधिकार देने की वस्तु है, माँगने की नहीं। यदि मानव-समाज अधिकार देने की सद्भावना को अपना ले, तो सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाएँ। अधिकार देने की भावना तभी विभु हो सकती है, जब साधक अपने अधिकार को त्याग, दूसरों के अधिकार की रक्षा करता रहे। साधक का जीवन साधननिष्ठ होने पर स्वतः विभु हो जाता है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक अपने लिए उपयोगी हो जाय। पराधीनता के रहते हुए अपने लिए उपयोगी होना सम्भव नहीं है। स्वाधीनता एकमात्र अपने अधिकार के त्याग और दूसरों के अधिकार के देने ही में है।

स्वाधीनता वर्तमान की माँग है और उसे साधक स्वाधीनतापूर्वक ही प्राप्त कर सकता है। ज्यों-ज्यों स्वाधीनता की माँग सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों पराधीनता के नाश करने की सामर्थ्य साधक को मंगलमय विधान से स्वतः प्राप्त होती है। पराधीनता सहन करने के समान मानव की और कोई भारी भूल नहीं है।

लेशमात्र की पराधीनता भी मानव को दीन, हीन तथा मलिन बना देती है, यह अनुभवसिद्ध तथ्य है। अतः स्वाधीनता प्राप्त करने के लिए एवं मिली हुई स्वाधीनता सुरक्षित रखने के लिए साधक को सजगतापूर्वक देहादि समस्त दृश्य से अपना अधिकार हटा लेना चाहिए।

दृश्य से अधिकार हटाते ही साधक की प्रगति उस ओर स्वतः हो जाती है, जो समस्त दृश्य का आश्रय तथा प्रकाशक है। जगत् के उद्गम की खोज भी वही कर सकता है, जो सब ओर से विमुख होकर, अधिकार-लालसा से रहित, अपने को अपनी माँग से अभिन्न करने में समर्थ हो

जाए। जब साधक अपने में अपनी माँग से भिन्न कुछ नहीं पाता, तब करुणामय की करुणा माँग को पूरा कर देती है, यह निर्विवाद सत्य है।

यद्यपि मानवमात्र में उसकी माँग बीज रूप से विद्यमान है, परन्तु भूल से उत्पन्न हुई अधिकार-लोलुपता ने उसे पूर्ण रूप से जाग्रत नहीं होने दिया। गम्भीरतापूर्वक विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि समस्त विश्व मिलकर भी साधक की वास्तविक माँग को पूरा नहीं कर सकता। इस दृष्टि से साधक का मूल्य सृष्टि से अधिक है। ऐसे मूल्यवान जीवन को पाकर अधिकार-लोलुपता के कारण मानव अपनी दुर्दशा आप कर डाले, इससे बढ़कर शोचनीय दशा क्या हो सकती है!

इसका अर्थ यह नहीं है कि मानव निराश होकर, हार मानकर बैठ जाय। भूतकाल चाहे कैसा भी क्यों न बीता हो, यदि साधक सजगतापूर्वक अपने लिए उपयोगी होने का प्रयास करे, तो सफलता अनिवार्य है। अपने अधिकार के त्याग में पराधीनता तथा असमर्थता की गन्ध भी नहीं है।

सुख-लोलुपता की दासता ने बेचारे मानव को अधिकार का दास बना दिया है। पराधीनता-जनित वेदना जब सुख-लोलुपता को खा लेती है, तब साधक स्वाधीनतापूर्वक अधिकार-लोलुपता से रहित, कर्त्तव्यनिष्ठ हो, कृतकृत्य हो जाता है, अर्थात् फिर उसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

5. अहंकृति-रहित होना– अहंकृति-रहित होते ही अहम्-भाव रूपी अणु सदा के लिए मिट जाता है, जिसके मिटते ही, जो सदैव है, उससे किसी प्रकार की दूरी, भेद तथा भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति स्वतः होती है। यह अनन्त का मंगलमय विधान है।

अपने लिए कुछ भी करने का प्रश्न तभी तक रहता है, जब तक मानव पराधीनता से उत्पन्न मान और भोग की रुचि की पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है, जो वास्तव में भूल है, अर्थात् भूलकाल में ही अपने लिए कुछ करने की बात मानव स्वीकार करता है।

जीवन उपयोगी हो जाय, यह तभी सम्भव होगा, जब अपने लिए कुछ भी करना शेष न रहे। कारण; कि 'अपने लिए कुछ करना है', यह स्वीकार करते ही कर्म-सामग्री का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। सामग्री का आश्रय लेते ही साधक का मूल्य परिस्थिति से घट जाता है और फिर वह परिस्थितियों का दास हो जाता है।

परिस्थितियों की दासता साधक को न तो उदार होने देती है और न स्वाधीन रहने देती है। उदारता और स्वाधीनता के बिना, जीवन जगत् के लिए और अपने लिए उपयोगी नहीं हो सकता। जो जीवन अपने लिए और जगत् के लिए अनुपयोगी हो, क्या वह जीवन अपने आश्रय तथा प्रकाशक एवं रचयिता के लिए उपयोगी हो सकता है? कदापि नहीं। कारण, कि प्रेम का प्रादुर्भाव ही जीवनको जगत्-पति के लिए उपयोगी सिद्ध करता है। स्वार्थ-भाव और पराधीनता में आबद्ध मानव का भला, क्या प्रेम के साम्राज्य में प्रवेश हो सकता है? कदापि नहीं। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक के जीवन में उदारता तथा स्वाधीनता की अभिव्यक्ति होनी चाहिए, जो एकमात्र तभी हो सकती है, जब साधक को अपने लिए कुछ भी करना शेष न रहे।

जब यह स्पष्ट ही है कि इस शरीर में अहम् तथा मम-बुद्धि स्वीकार करना भूल है, तब यह अनिवार्य हो जाता है कि मिला हुआ और उसी की जाति का देखा हुआ अपने लिए नहीं है।

अपने लिए एकमात्र चिर-विश्राम ही उपयोगी है। विश्राम की उपलब्धि विचार-सिद्ध है। विचार का उदय शारीरिक श्रम से नहीं होता, अपितु निज-ज्ञान के आदर में ही निहित है, जो साधक को अपने ही द्वारा करना है। ज्ञान का आदर श्रम-साध्य उपाय नहीं है, अपितु श्रम-रहित होने पर ही ज्ञान का प्रकाश स्पष्ट होता है।

'ज्ञान' अज्ञान का नाशक है तथा अपने ही द्वारा अपने आप का प्रकाशक है। ज्ञान से ही सभी प्रकाशित होते हैं, ज्ञान को कोई अन्य प्रकाशित नहीं करता। जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसको किसी अन्य के द्वारा नहीं जाना जाता। अतः अपने लिए कोई कृति अपेक्षित नहीं है। निज-ज्ञान के

आदर मात्र से ही साधक देहाभिमान रहित हो, विश्राम पाता है।

साधक जिन उपकरणों से जगत् को देखता है, उनसे अपने को नहीं देख सकता। अपने को अपने ही द्वारा अनुभव करता है। अपने को अनुभव करने के लिए अपने से भिन्न किसी करण की अपेक्षा नहीं होती। समस्त प्रवृत्तियाँ, अर्थात् कर्म शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा ही सिद्ध होते हैं और उन प्रवृत्तियों का सम्बन्ध जगत् के साथ होता है अपने प्रति नहीं।

अहितकर प्रवृत्तियों का त्याग करने पर हितकर प्रवृत्तियाँ स्वतः होने लगती हैं। साधक प्रमादवश सर्व-हितकारी प्रवृत्तियों के अभिमान को अपने में आरोपित कर, उनमें आबद्ध हो जाता है, अर्थात् स्वतः होने वाली भलाई का फल भोगने लगता है। उसी का परिणाम यह होता है कि भोक्ता होकर बुराई करने लगता है। बुराई-रहित होना त्याग है, कर्म नहीं। बुराई-रहित होने का परिणाम स्वतः भलाई होना है। यह सेवा है, कर्म नहीं। सेवा जगत् के लिए और त्याग अपने लिए उपयोगी है।

सेवा और त्याग दोनों ही दैवी सम्पत्ति हैं, मनुष्य की उपार्जित नहीं है; किन्तु प्रमादवश साधक आरोप कर लेता है कि 'मैंने त्याग किया है' और 'मैं सेवा करता हूँ'। जब अपना करके अपने में कुछ है ही नहीं, तो त्याग कैसा! और जो वस्तु जिसकी है, उसे मिल गई, तो सेवा कैसी! सेवा और त्याग तो वैज्ञानिक तथ्य हैं, जो स्वतः सिद्ध हैं। उनमें करने-कराने का अभिमान भूल-जनित है। 'अपने लिए अपने को कुछ नहीं करना है', यह अपना लेने पर ही जीवन निर्ममता, निष्कामता एवं अधिकार-लोलुपता से रहित होता है।

कभी-कभी साधक यह अनुभव करता है कि अपना दुःख मिटाने के लिए ही उसने सेवा तथा त्याग को अपनाया है। इस दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होने लगता है कि सब कुछ उसने अपने लिए ही किया है। परन्तु विचार यह करना है कि दुःख की उत्पत्ति का मूल क्या है? तो यह स्पष्ट विदित होता है कि भूल ही दुःख की उत्पत्ति का मूल है। भूल-रहित होने का परिणाम ही सेवा और त्याग है। अतएव भूल-रहित होना ज्ञान है, कर्म

नहीं। इस कारण ज्ञान के प्रभाव से ही सेवा और त्याग की सिद्धि होती है।

ज्ञान प्रत्येक साधक में मौजूद है। ज्ञान के अनादर से ही भूल उत्पन्न होती है। निज-ज्ञान का अनादर मानव स्वयं कर बैठता है। जिस अनन्त ज्ञान से मानव को ज्ञान मिला है, वह मानव का इतना अपना है कि उसे यह अनुभव ही नहीं होने देता कि प्राप्त ज्ञान उसका अपना नहीं है। यह मानव के प्रति अनन्त की आत्मीयता है। किन्तु मानव प्रमादवश, जो उसे अपना मानता है, उसे वह अपना नहीं मानता, अपितु उससे मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि को अपना मान लेता है।

प्राप्त ज्ञान का प्रकाश मिली हुई सामर्थ्य, वस्तु, योग्यता आदि से सम्बन्ध-विच्छेद करने की प्रेरणा देता है, अर्थात् वास्तविकता को स्पष्ट करता है। वास्तविकता को अपनाते ही अपना करके वही सिद्ध होता है, जो अपने को जानता है। साधक जिसको जानता है, वह उसका अपना नहीं है, अपने लिए नहीं है, यही सिद्ध होता है।

कैसी विचित्र बात है कि अपने वे हैं, जिन्हें हम नहीं जानते, अपितु जो हमें जानते हैं। उन्हीं में अविचल आस्था-श्रद्धा और विश्वास पूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना है। मिली हुई किसी भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि ने एक बार भी नहीं कहा कि हम तुम्हारे हैं।

हम जो अपने हैं, उन्हें अपना न मानकर, जो अपना नहीं है, उसे अपना मानते हैं। इस भूल का अन्त करने के लिए प्रत्येक साधक को ममता, कामना, तथा अधिकार-लोलुपता को त्याग, अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है। तभी जीवन अपने लिए उपयोगी होगा। अपने लिए उपयोगी होते ही जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के लिए प्रेम स्वतः जाग्रत होता है। यह मंगलमय विधान है।

जिसने हमारा और जगत् का निर्माण किया, उसने अपने ही में से किया है। इस दृष्टि से हम और जगत् उससे अभिन्न हैं। किन्तु प्रमाद के कारण आज हमें जगत् और जगत्पति से भिन्नता प्रतीत होती है। इस भिन्नता का अन्त किए बिना जीवन उपयोगी नहीं हो सकता।

जब हम जगत् से कुछ आशा करते हैं, तब जगत् से भिन्नता प्रतीत होती है और जब जगत्पति में हमारी अगाध प्रियता नहीं रहती, तब उनसे हमारी भिन्नता प्रतीत होती है।

यदि विचार पूर्वक जगत् से आशा न करें और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य, जो जगत्पति ने जगत् की सेवा के लिए दी हैं, वे उसी की सेवा में अर्पित कर दें, तो शरीर आदि से असंगता और जगत् से अभिन्नता स्वतः हो जाएगी, जिसके होते ही शरीर और विश्व की एकता स्वतः सिद्ध होगी। शरीर और विश्व की एकता का अनुभव हमें जगत्पति से नित्य सम्बन्ध तथा आत्मीयता जाग्रत करने में सहयोगी होगा; कारण, कि जब शरीर अपना करके नहीं रहा, तब अपनी अहंता उन्हीं की आत्मीयता में परिणत हो गई, जिन्होंने मेरा और जगत् का निर्माण किया था। इस दृष्टि से मानव अचाह होकर जगत्पति से अभिन्न हो, कृतकृत्य हो जाता है।

अचाह होते ही सेवा और प्रेम सहज हो जाता है। प्रेम से सेवा और सेवा से प्रेम पोषित होता है अथवा यों कहो कि प्रेम का क्रियात्मक रूप सेवा और सेवा का लक्ष्य प्रेम है। प्रेम किसी प्रकार की भिन्नता नहीं रहने देता, यह प्रेम की महिमा है।

पर जब तक साधक अपने लिए कुछ भी करता है, तब तक सेवा और प्रेम का अधिकारी नहीं होता। जिसे अपने लिए कुछ भी करना नहीं है, वही अपने लिए उपयोगी सिद्ध होकर सभी के लिए उपयोगी होता है।

जगत् के लिए उपयोगी होना

अपने लिए उपयोगी होने पर जीवन जगत् और जगत्पति के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सत्य है। परन्तु अब विचार यह करना है कि जगत् के लिए उपयोगी होने के लिए साधक में किस साधन-निधि की अभिव्यक्ति होती है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब साधक अपने लिए उपयोगी हो जाता है, तब उसे मिली हुई

वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि की अपेक्षा नहीं रहती। उसका परिणाम यह होता है कि उसके द्वारा मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं होता, अपितु स्वभाव से ही सदुपयोग होने लगता है। इतना ही नहीं, बुराई के बदले में भी वह बुराई नहीं करता। यही कर्त्तव्य-विज्ञान है। कर्त्तव्य-विज्ञान से सुन्दर समाज का निर्माण होता है, यह मंगलमय विधान है।

1. **किसी के साथ बुराई न करना**– बुराई को 'बुराई' जान कर न करना कर्त्तव्य-विज्ञान का आरम्भ है, किन्तु बुराई की उत्पत्ति ही न हो, यह कर्त्तव्य-विज्ञान की पूर्णता है।

किसी भय से भयभीत होकर बुराई न करना कर्त्तव्य की ओर अग्रसर होने का सहयोगी उपाय मात्र है, बुराई-रहित होना नहीं है। बुराई-रहित हुए बिना कर्त्तव्य-परायणता की अभिव्यक्ति ही नहीं होती।

बलपूर्वक की हुई भलाई कर्त्ता में अभिमान को जन्म देती है, जो भारी भूल है। जब तक मानव बलपूर्वक की हुई भलाई के आधार पर जीवित रहता है, तब तक उसमें परदोष-दर्शन की रुचि बनी रहती है, जो उसे कर्त्तव्य-विज्ञान से परिचित नहीं होने देती। इसका परिणाम यह होता है कि वह दूसरों पर शासन करने लगता है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। शासन के द्वारा समाज में से अकर्त्तव्य का अन्त नहीं हुआ, यह सभी विचारशीलों का अनुभव है। भूल-जनित वेदना से ही मानव बुराई-रहित होता है। सजगता आने पर ही भूल-जनित वेदना उदित होती है, जो कर्त्तव्यनिष्ठ बनाने में समर्थ है। अतएव यह निर्विवाद सिद्ध है कि व्यक्ति को समाज के प्रति बुराई नहीं करनी है, अपितु अपने प्रति होने वाली बुराई का उत्तर भी बुराई से नहीं देना है।

अब विचार यह करना है कि कोई भी व्यक्ति बुराई क्यों करता है? कर्म कर्त्ता का चित्र है और कुछ नहीं, अर्थात् कर्त्ता में से कर्म की उत्पत्ति होती है। जब तक मानव भूल से अपने को बुरा नहीं बना लेता, तब तक उससे बुराई नहीं होती। बुराई तभी कम हो सकती है, जब कर्त्ता बुरा न

रहे। बुराई के बदले में बुराई करने से उत्तरोत्तर बुराई की वृद्धि होती है। उससे बुराई की निवृत्ति नहीं होती। अतएव बुराई के बदले में भी बुराई न करना बुराई मिटाने में हेतु है।

इस दृष्टि से सर्व प्रथम प्रत्येक मानव को अपने को साधक स्वीकार करना अनिवार्य है। फिर अपने और जगत् के सम्बन्ध पर विचार करना चाहिए, तभी कर्त्तव्य-विज्ञान का भलीभाँति परिचय होगा, जिसके होने पर कर्त्तव्य-परायणता आएगी, जो जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

कर्त्तव्यपरायणता प्राप्त परिस्थिति से सम्बन्ध रखती है। इसी कारण उसको पालन करने में मानव सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है। परन्तु अपने को साधक स्वीकार किए बिना परिस्थिति में जीवन-बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसके होने से मानव परिस्थितियों का दास हो जाता है और फिर प्राप्त परिस्थिति का सदुपयोग नहीं कर पाता और अप्राप्त परिस्थितियों के चिन्तन में आबद्ध हो जाता है, जो विनाश का मूल है।

परिवर्तनशील परिस्थिति मानव का जीवन नहीं हो सकती; कारण, कि जीवन अविनाशी है, विनाशी नहीं। अविनाशी जीवन की उपलब्धि किसी परिस्थिति विशेष से सम्बन्ध नहीं रखती। इसी कारण सभी परिस्थितियों में साधक को जीवन की उपलब्धि हो सकती है। इस दृष्टि से साधक का अपना मूल्य प्रत्येक परिस्थिति से अधिक है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब साधक को कर्त्तव्य-विज्ञान का बोध होता है।

यह सभी को मान्य है कि जब तक भूल-रहित होने की तीव्र माँग जाग्रत नहीं होती, तब तक निज-विवेक के प्रकाश में अपनी भूल देखना सम्भव नहीं होता, अर्थात् अपने द्वारा अपनी भूल का ज्ञान नहीं होता। भूल के ज्ञान में ही भूल का नाश है। यह मंगलमय विधान है।

कर्त्तव्य-निष्ठ जीवन से दूसरों में अपनी-अपनी भूल देखने की माँग जाग्रत हो जाती है। कर्त्तव्य-निष्ठ मानव किसी को भयभीत नहीं करता, अपितु भय-रहित होने के लिए सहयोग प्रदान करता है। किसी को भयभीत करने से उसका कल्याण नहीं होता, अपितु किसी-न-किसी अंश में अहित

ही होता है। भय देकर कोई भी राष्ट्र अपनी प्रजा को निर्दोष नहीं बना सका, यह अनुभव-सिद्ध सत्य है।

निर्दोष जीवन से ही समाज में निर्दोषता व्यापक होती है। निर्दोष साधक दोष-युक्त मानव को देख, करुणित होता है, क्षोभित नहीं। उसे पर-दुःख अपना ही दुःख प्रतीत होता है और करुणित होकर उसके प्रति क्रियात्मक तथा भावात्मक सहयोग देने के लिए तत्पर हो जाता है। उसका परिणाम यह होता है कि अपराधी स्वयं अपने अपराध को देख, निर्दोष होने के लिए आकुल तथा व्याकुल हो जाता है, और फिर वह बड़ी ही सुगमतापूर्वक वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखने में समर्थ होता है। इस प्रकार साधननिष्ठ जीवन से समाज में निर्दोषता व्यापक होती है।

बल का दुरुपयोग न करने से ही कर्त्तव्य-परायणता आती है और फिर उसके द्वारा सभी के अधिकार सुरक्षित हो जाते हैं, जिससे समाज में कर्त्तव्य-परायणता की अभिरुचि जाग्रत होती है।

कर्त्तव्य-निष्ठ होने की माँग साधक को अकर्त्तव्य से रहित कर देती है, जिसके होते ही स्वतः कर्त्तव्य-परायणता आ जाती है। बुराई-रहित होने से बुराई का नाश होता है, किसी अन्य प्रकार से नहीं। इतना ही नहीं, बुराई के बदले में भी जब भलाई की जाती है, तब बुराई करने वाला बुराई-रहित होने के लिए तत्पर हो जाता है।

यह सभी को मान्य होगा कि सर्वांश में कोई बुरा नहीं होता, सभी के लिए कोई बुरा नहीं हो सकता और बुराई नहीं कर सकता। बुराई की उत्पत्ति होती है, अर्थात् उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। इसी कारण बुराई न दोहराने से बुराई सदा के लिए मिट जाती है, यह मंगलमय विधान है। इस विधान का आदर करना प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। अतः बुराई करने का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

जब साधक इस महाव्रत को अपना लेता है, तब बुरा नहीं रहता और जब बुरा नहीं रहता, तब बुराई की उत्पत्ति ही नहीं होती, जिसके न होने पर कर्त्तव्यपरायणता स्वतः आ जाती है, यह निर्विवाद सत्य है।

बुराई न करने का व्रत साधक को वर्तमान निर्दोषता से अभिन्न करता है। इस कारण उसके अहम् में से यह धारणा सदा के लिए निकल जाती है कि 'मैं बुरा हूँ'। प्राकृतिक नियमानुसार कर्त्ता में से ही कर्म की उत्पत्ति होती है। जब साधक वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अपने को निर्दोष स्वीकार कर लेता है, तब उसमें पुनः दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। इस दृष्टि से बुराई-रहित होने का व्रत प्रत्येक साधक के लिए अनिवार्य है। इतना ही नहीं, दूसरों के सम्बन्ध में भी उसकी यही धारणा हो जाती है कि वर्तमान तो सभी का निर्दोष है।

यदि कोई स्वयं अपने को दोषी स्वीकार करे, तब भी साधक उसे उसकी वर्तमान निर्दोषता का स्मरण दिला कर उसे सदा के लिए निर्दोषता सुरक्षित रखने की प्रेरणा देता है और उससे वर्तमान निर्दोषता के अनुरूप ही व्यवहार करता है। इस दृष्टि से परस्पर निर्दोषता सुरक्षित रखने का बल प्राप्त होता है।

जगत् के प्रति इस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित करना जगत् के लिए मंगलकारी है। अपने द्वारा जगत् का अहित न हो, इसमें साधक की अविचल निष्ठा रहनी चाहिए। यह तभी सम्भव होगा, जब वह वर्तमान निर्दोषता के आधार पर किसी को बुरा न समझे और न किसी का बुरा चाहे एवं न किसी के साथ बुराई करे। ऐसा होने पर सुगमतापूर्वक जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता है, अथवा यों कहो कि जगत् के अधिकार की रक्षा हो जाती है।

साधक पर जगत् और जगत्पति दोनों का ही अधिकार है। अपने लिए उपयोगी हो जाने पर, अपने अधिकार का प्रश्न ही शेष नहीं रहता, किन्तु साधक के प्रति जगत् की उदारता और जगत्पति की कृपालुता सदैव रहती है, यह मंगलमय विधान है।

2. किसी को बुरा न समझना– किसी भी साधक को किसी को बुरा समझने का अधिकार ही नहीं है; कारण, कि दूसरे के सम्बन्ध में पूरा जानना सम्भव नहीं है। अधूरी जानकारी के आधार पर निर्णय देना न्याय

नहीं है। न्याय करने का अधिकार किसी व्यक्ति को किसी भी व्यक्ति के प्रति नहीं है। व्यक्ति समाज के अधिकार की रक्षा कर सकता है, किसी के प्रति बलपूर्वक न्याय नहीं कर सकता।

न्याय तो प्रत्येक साधक अपने ही प्रति कर सकता है। न्याय का सर्वप्रथम अंग है, ''अपराधी अपने अपराध से परिचित हो जाय, अर्थात् अपनी भूल से उत्पन्न हुए अपराध को स्वीकार करे, किन्तु सदा के लिए सर्वांश में अपने को अपराधी न माने।''

प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी सदा के लिए दोषी होकर नहीं रहना चाहता और सर्वांश में कोई दोषी भी नहीं है। सभी में स्वभाव से ही निर्दोषता की माँग है। आंशिक दोष की उत्पत्ति भूल-जनित है, स्वभाव-जनित नहीं; कारण, कि दोष का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है।

जब अपराधी भूल-जनित दोष से पीड़ित होता है, तब उसमें से दोष-जनित सुख-लोलुपता मिट जाती है, जिसके मिटते ही पुनः दोष न दोहराने की तीव्र माँग जाग्रत होती है। पर जब उसे दूसरा अपराधी मानने लगता है, तब वह क्षुभित तथा क्रोधित होकर दूसरों के दोष देखने लगता है। दूसरों का दोष देखते ही अपने में से दोषी होने की वेदना शिथिल होने लगती है। इससे उसका और दूसरों का अहित ही होता है। इसी कारण दूसरों के द्वारा किया हुआ न्याय निर्दोषता की स्थापना नहीं कर पाता। परन्तु जब वर्तमान निर्दोषता के आधार पर अपराधी को कोई दोषी नहीं मानता, तब अपराधी स्वयं भूतकाल की भूल को न दोहराने के लिए तत्पर हो जाता है और वर्तमान निर्दोषता में स्थिर होकर सदा के लिए निर्दोष हो जाता है। इस दृष्टि से अपने द्वारा ही अपने प्रति न्याय करना हितकर सिद्ध होता है।

यदि अपराधी की वर्तमान निर्दोषता को स्वीकार नहीं किया जाता, तो उसकी अहंता में से अपराधी-भाव निवृत्त नहीं होता और फिर वह अपराधी होकर अपराध करने में तत्पर हो जाता है।

सर्वांश में तो कोई अपराधी होता ही नहीं। बड़े से बड़े हिंसक में भी

किसी न किसी के प्रति करुणा होती है। बेईमान भी अपने साथी के लिए ईमानदार सिद्ध होता है। इतना बुरा कोई हो ही नहीं सकता, जो सभी के साथ सदैव बुराई करे। सर्वांश में निज-ज्ञान का अनादर करना किसी भी मानव के लिए सम्भव ही नहीं है। इस दृष्टि से सर्वांश में कोई दोषी होता ही नहीं, यह प्राकृतिक तथ्य है। अतः किसी को बुरा समझना बुराई करने की अपेक्षा गुरुतर भूल है।

किसी में बुराई की स्थापना करना, उसके लिए और अपने लिए अहितकर ही है। किसी को बुरा समझने पर अपने में अशुद्ध संकल्पों की उत्पत्ति होती है और क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, जो कर्त्तव्य की विस्मृति में हेतु है। अशुद्ध संकल्पों से किसी-न-किसी अंश में अशुद्ध कर्म होने ही लगता है। इस दृष्टि से दूसरों को बुरा समझने से अपने में बुराई उत्पन्न हो जाती है। यदि किसी को कोई बुरा न समझे, तो उसमें अशुद्ध संकल्प उत्पन्न नहीं होते और न वैर-भाव की उत्पत्ति होती है, अपितु समता आ जाती है, जिसके आते ही सर्वात्म-भाव जागृत होता है, जो विकास की भूमि है। किसी-न-किसी नाते समस्त विश्व अपना है। अपने में दोष की स्थापना करना, न तो न्याय है और न प्रेम।

अब यदि कोई यह कहे कि दोषी न मानने से, उसे भयभीत न करने से दोषी में दोषों की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही रहेगी, जो समाज के लिए अहितकर है। पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है; कारण, किसी में दोषों की उत्पत्ति होती ही कब है? जब वह अपने को दोषी बना लेता है।

अब विचार यह करना है कि वह अपने को दोषी क्यों बना लेता है? पर-दोष देख, क्षुभित होने से, अथवा यों कहो कि जब उसके साथ कोई बुराई करता है, तब अपने को निर्दोष मानकर बुराई के बदले में बुराई करने के लिए अपने को बुरा बनाता है। पर उसे इस बात का स्वयं पता नहीं रहता कि बुराई का प्रतिकार करने के लिए मैं स्वयं बुरा हो गया। बुराई का प्रतिकार प्राकृतिक नियमानुसार बुराई करना नहीं है, अपितु क्षमाशील होकर, करुणित होकर उसके प्रति भलाई करना अथवा हित-कामना करना है। सभी के प्रति हित-कामना बिना स्वीकार किए, निर्दोषता

व्यापक नहीं हो सकती। इस कारण बुराई–काल में ही यदि हम उसे बुराई न करने दें, आत्मीयता पूर्वक आदर और प्यार दें, करुणित होकर उसकी भूल से स्वयं दुःखी हो जाएँ, उसके कर्त्तव्य की ओर संकेत करें तथा उसे उसकी महिमा से परिचित करा कर हृदय से लगाएँ तो वह अवश्य बुराई–रहित हो जाएगा।

अधिकतर तो सुनकर, अथवा अनुमान मात्र से ही दूसरों को बुरा समझ लिया जाता है। इतना ही नहीं, इन्द्रिय दृष्टि से किसी की वास्तविकता का बोध ही नहीं होता। अधूरी जानकारी के आधार पर किसी को दोषी मान लेना, उसके प्रति अन्याय और अपने में बुराई को जन्म देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने सभी के प्रति सद्‌भावना तथा आत्मीयता स्वीकार की है।

समस्त दोषों का मूल मानव की अपनी असमर्थता है और कुछ नहीं। असमर्थता जीवन में तब आती है, जब मानव अपने लक्ष्य को भूलता है। लक्ष्य की विस्मृति से ही मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग करता है और उसके परिणाम में स्वयं असमर्थ हो जाता है। सामर्थ्य के दुरुपयोग से ही समाज में दोषों की उत्पत्ति होती है। सामर्थ्य का सदुपयोग असमर्थ की असमर्थता मिटाने में है, किसी को असमर्थ बनाने में नहीं। पर इस वास्तविकता को भूल जाने से सामर्थ्य का दुरुपयोग रोकने के लिए मिली हुई सामर्थ्य द्वारा उसे असमर्थ बनाते हैं। उसका परिणाम कभी भी हितकर नहीं होता।

थोड़ी देर के लिए ऐसा प्रतीत होने लगता है कि बलपूर्वक सामर्थ्य का दुरुपयोग रोक दिया, पर वास्तव में ऐसा होता नहीं। सामर्थ्य के दुरुपयोग से सभी में असमर्थता की ही वृद्धि होती है और उसकी प्रतिक्रिया सामर्थ्य का दुरुपयोग करने के लिए ही प्रेरित करती है। अतः सामर्थ्य का उपयोग असमर्थता के मिटाने में है, किसी को असमर्थ बनाने में नहीं।

अब विचार यह करना है कि व्यक्ति तथा समाज में से असमर्थता का नाश कैसे हो? सर्वहितकारी सद्‌भावना तथा प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग से ही असमर्थता मिट सकती है। सामर्थ्य के सदुपयोग से उत्तरोत्तर सामर्थ्य की

वृद्धि होती है, यह प्राकृतिक विधान है।

सामर्थ्य का दुरुपयोग न करें, इसके लिए यह आवश्यक है कि साधक किसी को बुरा न समझे। दूसरों को बुरा समझने मात्र से ही क्षोभ तथा क्रोध उत्पन्न होता है, जो सामर्थ्य का सदुपयोग नहीं करने देते। इस कारण बड़ी ही सजगतापूर्वक दूसरों के प्रति अपने कर्त्तव्य का निर्णय करना चाहिए।

असमर्थता का मूल मानव की अपनी भूल है और कुछ नहीं। भूल-रहित करने के लिए साधक को स्वयं भूल-रहित होना अनिवार्य है। अपनी भूल से ही मानव आप पराधीनता में जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है और जन्मजात स्वाधीनता से विमुख हो जाता है। जिसमें पराधीनता नहीं रहती, वह असमर्थ नहीं रहता, और जो असमर्थ नहीं रहता, वह मिली हुई सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करता। इस दृष्टि से पराधीनता का सर्वांश में नाश करना अनिवार्य है, जो एकमात्र सत्संग से प्राप्त साधन-निधि से ही सम्भव है।

पराधीनता से ही विवश होकर मानव वह करने लगता है, जो नहीं करना चाहिए। उससे उत्तरोत्तर पराधीनता की ही वृद्धि होती है। वास्तव में तो जो नहीं करना चाहिए, उसके न करने में ही मानव की स्वाधीनता है, और इसी प्रयोग से पराधीनता नष्ट होती है। इस दृष्टि से स्वाधीनतापूर्वक ही स्वाधीनता की उपलब्धि होती है।

स्वाधीन होने के लिए अपनी ओर न देखना और दूसरों से आशा करना भारी भूल है। 'पर' के द्वारा हमें जो कुछ मिलता है, वह पराधीनता में ही आबद्ध करता है। साधक को जगत् के लिए उपयोगी होना है, जगत् से कुछ लेना नहीं है। भला पर-प्रकाश्य, परिवर्तनशील, उत्पत्ति-विनाश-युक्त जगत् से आशा की जाय! वह बेचारा दे ही क्या सकता है! जब साधक किसी को बुरा नहीं समझता, किसी की बुराई नहीं चाहता और किसी भी भय तथा प्रलोभन से बुराई करने के लिए तत्पर नहीं होता, तब उसका जीवन जगत् के लिए अनुपयोगी नहीं रहता, अपितु उपयोगी हो

जाता है। यह मंगलमय विधान है।

3. किसी का बुरा न चाहना– बुराई करने की अपेक्षा किसी का बुरा चाहना बहुत बड़ी बुराई है। यद्यपि किसी का बुरा चाहने से उसका बुरा हो नहीं जाता, परन्तु बुरा चाहने से बुरा चाहने वाले की बहुत भारी क्षति होती है। इतना ही नहीं, बुराई करने पर तो करने वाले में परिवर्तन भी आता है और वह बुराई करने से अपने को बचाने का प्रयास भी करने लगता है, किन्तु बुरा चाहने से तो भाव में अशुद्धि आ जाती है। भाव कर्म की अपेक्षा अधिक विभु और स्थायी होता है। इस कारण बुरा चाहने से बुराई करने की अपेक्षा अधिक क्षति होती है। जो किसी का बुरा नहीं चाहता, उसमें सर्वहितकारी भावना तथा करुणा स्वतः जाग्रत होती है। इस दृष्टि से बुरा चाहने की प्रवृत्ति सर्वथा त्याज्य है।

जब साधक किसी का बुरा नहीं चाहता, तब उसमें उसके प्रति भी करुणा जाग्रत होती है, जो उसे बुराई करता हुआ प्रतीत होता है और उसके प्रति भी, जिसके प्रति बुराई की जा रही है। उसकी सद्‌भावना दोनों ही पक्षों के प्रति समान रहती है। इस कारण उसमें क्षोभ तथा क्रोध की उत्पत्ति ही नहीं होती, जिससे वह स्वभाव से ही कर्त्तव्यनिष्ठ हो जाता है और उससे सभी का हित होने लगता है। यह ध्रुव सत्य है।

क्षुभित तथा क्रोधित होने पर तो मानव में विनाश की भावना उत्पन्न होती है, जो किसी भी बुराई से कम नहीं है। विनाश की भावना में अपना ही विनाश निहित है; कारण, कि 'पर' के प्रति जो किया जाता है, वह अपने प्रति हो जाता है, यह वैधानिक तथ्य है।

परहित में, पर-सेवा में साधक का अधिकार है। किसी को बुरा समझने, बुरा चाहने एवं किसी के साथ बुराई करने में साधक को कोई अधिकार नहीं है। इतना ही नहीं, परचिन्तन मात्र से ही साधक का अहित होता है। यद्यपि किसी न किसी नाते सभी अपने हैं; परन्तु जिसके नाते सभी अपनें हैं, अपना तो वही है अपने की प्रियता और उनके नाते सभी की सेवा ही तो साधक का जीवन है।

सेवा तभी सिद्ध होती है, जब शासन की भावना का सर्वांश में नाश हो जाय। सेवक शासक नहीं होता और शासक सेवा नहीं कर पाता। किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना और किसी के प्रति किसी भी कारण से बुराई करना शासन की प्रवृत्ति है, सेवा नहीं। शासक शासित का विकास नहीं कर पाता। सेवक के द्वारा सभी का विकास होता है। साधक सभी के लिए उपयोगी हो, यही तो उसकी वास्तविक माँग है। जो किसी के लिए भी अनुपयोगी होता है, वह साधक नहीं है। किसी के लिए उपयोगी और किसी के लिए अनुपयोगी हो जाना शासन करना है, सेवा नहीं। उसका परिणाम कभी भी हितकर सिद्ध नहीं होता। इतना ही नहीं, दो देशों, दलों, वर्गों, व्यक्तियों आदि में परस्पर वैर-भाव ही दृढ़ होता है, जो विनाश का मूल है। हाँ, साधक अपने ही द्वारा अपने पर शासन करता है और की हुई भूल नहीं दोहराता, अर्थात् वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित रखता है, जो सर्वतोमुखी विकास की भूमि है।

अपने पर अपना शासन करने की भावना एवं प्रवृत्ति तभी जाग्रत होती है, जब उसे कोई दूसरा शासित न करे, अपितु आत्मीयता पूर्वक पीड़ित होकर सहयोग प्रदान करे। इस कारण किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना और किसी के प्रति बुराई करना सर्वथा त्याज्य है। यही सर्वांश में बुराई-रहित होने का अचूक उपाय है।

बुराई-रहित जीवन की माँग सदैव सभी को रहती है। और बुराई-रहित जीवन में ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है। इस दृष्टि से बुराई-रहित होना वर्तमान का प्रश्न है, जो एकमात्र साधन-निधि के सम्पादन से ही सम्भव है। साधन-निधि में ही साधक का जीवन और साध्य की प्रसन्नता निहित है। साधन-निधि प्रत्येक साधक को उपलब्ध हो सकती है; कारण, कि उसका निर्माण ही साधन-निधि के लिये हुआ है। उससे निराश होना, अपने को उसका अधिकारी न मानना साधक की ही भारी भूल है, जिसका शीघ्रातिशीघ्र अन्त करना अनिवार्य है।

किसी को बुरा न समझने, किसी का बुरा न चाहने और किसी के प्रति बुराई न करने का निर्विकल्प निर्णय श्रम-साध्य उपाय नहीं है, अपितु

अपने ही द्वारा अपने को स्वीकार करना है। जो अपने द्वारा करना है, उसमें पराधीनता तथा असमर्थता नहीं है-यह प्राकृतिक विधान है। विधान के आदर में ही मानव का अधिकार है। यह स्वाधीनता उसे उसके निर्माता ने दी है। मिली हुई स्वाधीनता का सदुपयोग ही तो मानव का परम पुरुषार्थ है। इस दृष्टि से साधन-निधि के सम्पादन में प्रत्येक साधक सर्वदा समर्थ है।

जब यह कहा जाता है कि किसी को बुरा न समझो, किसी का बुरा न चाहो एवं किसी की बुराई न करो, तब यह प्रश्न स्वतः उत्पन्न होता है कि जब सबल निर्बलों को सता रहे हैं, तब बेचारा निर्बल कैसे किसी को बुरा न समझे, तथा किसी का बुरा न चाहे? इस समस्या पर विचार करने पर ऐसा विदित होता है कि सबल निर्बल के प्रति बल का दुरुपयोग तभी करता है, जब किसी को निर्बल पाता है। यदि जीवन में निर्बलता न रहे, तो सबल अत्याचार नहीं कर सकता, यह निर्विवाद सिद्ध है।

सबसे बड़ी निर्बलता जीवन में कब आती है? जब मानव प्रसन्नता पूर्वक मृत्यु को नहीं अपनाता, अपितु सबल के अत्याचार को स्वीकार कर जीना चाहता है। इस निर्बलता ने ही सबल की बल के दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति को पोषित किया है।

मानव को अपना लक्ष्य अपने प्राणों से अधिक प्रिय होना चाहिए। लक्ष्य की सिद्धि के लिए हर्षपूर्वक प्राणों का त्याग करना आ जाय, तो कोई भी सबल निर्बल को अपने अधीन नहीं कर सकता। परन्तु प्राणों का प्रलोभन उससे अमानवता पूर्ण अत्याचार सहन-कराता है। इतना ही नहीं, कालान्तर में वह स्वयं अत्याचारी हो जाता है।

भौतिक निर्बलताओं के कारण सबल के द्वारा किए गए बल के दुरुपयोग को सहन करना और उसके अधीन हो जाना, यह साधक का प्रमाद है, और कुछ नहीं।

भौतिक बल कभी भी साधन-निधि से सम्पन्न साधक पर विजयी नहीं हो सकता। उसकी दृष्टि में शरीर का रहना, न रहना समान अर्थ रखता है;

कारण, कि उसने अपने ही में सब कुछ पा लिया है। उसमें पराधीनता की गन्ध भी नहीं है। यह साधननिष्ठ होने की महिमा है। इस कारण कितना ही भौतिक बल क्यों न हो, यदि मानव साधक होकर साधननिष्ठ हो जाता है, तब किसी सबल का अत्याचार उसे अपनी निष्ठा से विचलित नहीं कर सकता, उसके शरीर आदि वस्तुओं का भले ही नाश कर दे। बल के दुरुपयोग से उसे कोई अपने अधीन नहीं कर सकता। साधन-निधि से सम्पन्न साधक की दृष्टि में शरीर आदि वस्तुओं का नाश कुछ अर्थ नहीं रखता; कारण, कि वह अविनाशी जीवन से अभिन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, सर्वात्मभाव होने के कारण वह बल के दुरुपयोग करने वाले पर भी अपने प्राणों की आहुति देता हुआ उसकी हित-कामना से उस पर विजयी होता है।

प्राकृतिक नियमानुसार बल का दुरुपयोग निर्बलता को जन्म देता है, अर्थात् सबल बल के दुरुपयोग के कारण स्वयं निर्बल हो जाता है। हाँ, यह अवश्य है कि जो साधक साधन-निधि से सम्पन्न नहीं है, उसी पर भौतिक बल का प्रहार अपना अधिकार जमाता है। अतः किसी को बुरा न समझ कर, किसी का बुरा न चाह कर तथा किसी के साथ बुराई न करके साधन-निधि से सम्पन्न साधक बल के दुरुपयोग की भावना के नाश करने में समर्थ होता है। पराधीनता से उत्पन्न हुई सुख-लोलुपता उससे सबल के अत्याचार को सहन कराती है, जिसका नाश एकमात्र दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर साधन-निधि से सम्पन्न होने से ही सम्भव है।

प्रलोभन और भय ने ही मानव को निर्बल बनाया है, जिसकी निवृत्ति एकमात्र भूल-रहित होने से ही होती है। यह सभी को विदित है कि मिला हुआ शरीर सदैव नहीं रहेगा, फिर भी यह बना रहे, यह कामना करना और शरीर को बनाए रखने के लिए सब कुछ सहन करना, कहाँ तक न्याय-युक्त है? इस पर विचार करने से यही विदित होता है कि शरीर का उपयोग विश्व की सेवा में है, उसके द्वारा कामना-पूर्ति के सुख का प्रलोभन रखना भूल ही है। शरीर के न रहने पर भी जीवन है, तो फिर शरीर को बनाये रखने की कामना क्या अर्थ रखती है? कुछ नहीं ।

जिसे अपना कर्त्तव्य प्राणों से अधिक प्रिय है, उसे कोई भी सामर्थ्यवान कर्त्तव्य से च्युत नहीं कर सकता। अतएव बल का दुरुपयोग उन्हीं पर विजयी होता है, जो अपने कर्त्तव्य को प्राणों से अधिक नहीं मानते। प्राणों का मूल्य कर्त्तव्य से कम है। कर्त्तव्य-पालन के लिए प्रसन्नता पूर्वक प्राणों का त्याग कर देना साधन-निधि-सम्पन्न साधक का सहज स्वभाव है।

अपने प्रति अत्याचार करने पर भी अत्याचारी का हित हो, यह सद्भावना तभी जाग्रत होती है, जब साधक साधन-निधि से सम्पन्न होता है। उससे पूर्व अन्याय का प्रतिकार अन्याय पूर्वक करने की रुचि उत्पन्न तो होती है, पर उसमें अन्याय का प्रतिकार तथा न्याय की स्थापना नहीं हो पाती, अपितु उत्तरोत्तर अन्याय की ही वृद्धि होती रहती है। इस दृष्टि से अन्याय का वास्तविक प्रतिकार अपने प्रति न्याय और दूसरों के प्रति प्रेम से ही होगा।

प्रेम सभी का, सर्वदा, सर्वांश में, स्वभाव से ही हितैषी होता है; कारण, कि प्रेम को पाकर जीवन में किसी प्रकार का अभाव, जड़ता, नीरसता तथा पराधीनता नहीं रहती। प्रेम के प्रादुर्भाव के लिए यह अनिवार्य है कि साधक किसी को बुरा न समझे, किसी का बुरा न चाहे एवं किसी के प्रति बुराई न करे, अर्थात् बुराई-रहित होकर सभी के लिए उपयोगी होने में ही मानव-जीवन की पूर्णता है।

प्रभु के लिए उपयोगी होना

अपने लिए तथा जगत् के लिए उपयोगी होने पर अपने रचयिता के लिए उपयोगी होने का प्रश्न स्वतः आ जाता है। सिद्धान्तरूप से ही यह सर्वदा मान्य है कि अपने लिए और जगत् के लिए उपयोगी होने पर अपने रचयिता के लिए उपयोगी होना स्वाभाविक ही है। परन्तु फिर भी यदि इस समस्या पर विचार किया जाए कि साधक अपने रचयिता के लिए कैसे उपयोगी सिद्ध होता है! तो यह स्पष्ट विदित होता है कि रचयिता ने जो

भाव-शक्ति दी है, उसी के उपयोग द्वारा वह अपने आश्रय तथा प्रकाशक के लिए उपयोगी हो सकता है।

1. सुने हुए प्रभु की सत्ता स्वीकार करना– भासित होने वाले 'मैं' और प्रतीत होने वाले 'जगत्' का कोई आश्रय तथा प्रकाशक है, उसमें अविचल आस्था करना अनिवार्य है। वह कैसा है, कहाँ है, क्या करता है? यह जानना आवश्यक नहीं है। पर उसे स्वीकार करना अत्यन्त आवश्यक है।

कोई भी उत्पत्ति बिना उसके सिद्ध नहीं होती, जिसका आश्रय अनुत्पन्न अर्थात् अविनाशी न हो। जो सदैव मौजूद है, उसी में सभी की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय हो सकता है। उसे उत्पन्न हुए इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा भले ही विषय न किया हो, परन्तु भाव-शक्ति के द्वारा उसे स्वीकार करना अनिवार्य है।

उत्पत्ति अपने आश्रय को अपने द्वारा विषय नहीं कर सकती। तो फिर उत्पन्न हुई इन्द्रियों, मन, बुद्धि आदि के द्वारा उसे कैसे जाना जा सकता है? जो मौजूद है और अविनाशी है, उसे तो मानना ही होगा। हाँ, यह अवश्य है कि मानने पर उसमें अविचल आस्था होगी। अपने द्वारा की हुई आस्था को कोई और नहीं मिटा सकता। इससे यह सिद्ध होता है कि आस्था करने में साधक सर्वथा स्वाधीन है।

यदि मानव बिना देखे हुए में आस्था नहीं करता, तो मिला हुआ शरीर तथा इन्द्रिय, मन, बुद्धि द्वारा प्रतीत होने वाला जगत् तो आस्था के योग्य है ही नहीं। मिले हुए का उपयोग किया जा सकता है, उसमें आस्था नहीं की जा सकती। और देखे हुए पर विचार किया जा सकता है, आस्था नहीं की जा सकती। सुने हुए में आस्था की जा सकती है, उस पर विचार नहीं किया जा सकता।

सुने हुए के सम्बन्ध में जिसने जो कुछ कहा है, वह सही होने पर भी अधूरा है। पर यह किसी ने नहीं कहा कि वह अद्वितीय नहीं है, सदैव नहीं है, समर्थ नहीं है, सभी का नहीं है, सर्वत्र नहीं है। उसे तो सभी समर्थ

स्वीकार करते हैं।

सुने हुए प्रभु की आस्था स्वीकार करने पर मिले हुए शरीर और देखे हुए जगत् की आस्था निर्जीव हो जाती है; कारण, कि दो आस्थाएँ एक काल में जीवित नहीं रह सकतीं। और प्रभु की महिमा को स्वीकार करने पर आस्तिक साधक में श्रद्धा स्वतः जाग्रत होती है। फिर साधक विश्वासी हो जाता है। विश्वासी विश्वास-पात्र से भिन्न की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार ही नहीं करता। तब विश्वासी में स्वतः स्मृति जाग्रत होती है, जिसके होते ही विश्वास-पात्र से भिन्न की विस्मृति हो जाती है। फिर स्मृति विश्वासी को विश्वासपात्र की प्रीति से अभिन्न कर देती है, अर्थात् विश्वासी का अस्तित्व प्रीति से भिन्न कुछ नहीं रहता।

प्रीति स्वभाव से ही दूरी, भेद, भिन्नता को नहीं रहने देती, अर्थात्, योग, बोध और प्रेम, जो विश्वासपात्र का स्वभाव है, विश्वासी उसी से अभिन्न हो जाता है। पर आस्था, श्रद्धा, विश्वास के बिना कोई भी साधक विश्वास-पात्र से आत्मीयता स्वीकार नहीं कर सकता। आत्मीयता में ही अगाध प्रियता निहित है, जो श्रद्धास्पद को रस देने में समर्थ है। इस दृष्टि से साधक आस्था, श्रद्धा एवं विश्वासपूर्वक आत्मीयता से जागृत प्रियता के द्वारा अपने रचयिता के लिए उपयोगी होता है।

2. **श्रद्धा एवं विश्वास करना**– आस्था, श्रद्धा, विश्वास का पथ भी स्वतन्त्र पथ है। पर जो साधक अपनी असमर्थता से पीड़ित होकर अपने लक्ष्य से निराश नहीं होता, वही श्रद्धा-विश्वास के पथ का अधिकारी होता है।

वास्तविक जीवन से निराश होना मानव की अपनी भूल है; कारण, कि उसका निर्माण उसके रचयिता ने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही किया है।

मानव का रचयिता सब प्रकार से पूर्ण तथा समर्थ है। जब उसने मानव का निर्माण लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया है, तो फिर लक्ष्य की प्राप्ति तो अवश्यम्भावी है। इस दृष्टि से साधक में लक्ष्य-प्राप्ति के लिए प्रत्येक परिस्थिति में नित्य, नव उत्साह तथा उत्कंठा उत्तरोत्तर बढ़ती रहनी चाहिए।

परन्तु जब साधक अपनी ही भूल से अपने को असमर्थ बना लेता है, तब कभी-कभी अपने लक्ष्य से निराश होने लगता है। पर जब अपने रचयिता की महिमा में अविचल श्रद्धा तथा विश्वास करता है, तब निराशा आशा में परिणित हो जाती है और लक्ष्य की प्राप्ति के लिए परम व्याकुलता जाग्रत होती है, जो सफलता की कुंजी है।

मानव का जो लक्ष्य है, उससे उसकी देश, काल आदि की दूरी नहीं है; कारण, कि लक्ष्य वही हो सकता है, जो उत्पत्ति-विनाश-रहित, सर्वत्र, सर्वदा विद्यमान है। जो मौजूद है, उसकी उपलब्धि वर्तमान में हो सकती है।

अब विचार यह करना है कि जो मौजूद है, उससे दूरी, भेद, भिन्नता क्यों प्रतीत होती है? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि जब साधक अपने लक्ष्य को मिली हुई वस्तु, योग्यता सामर्थ्य के द्वारा प्राप्त करना चाहता है, जो उसे विश्व-सेवा के लिए मिली हैं, तब लक्ष्य से दूरी, भेद, भिन्नता प्रतीत होती है। यद्यपि जो सर्वत्र, सर्वदा है उससे स्वरूप से दूरी हो ही नहीं सकती, परन्तु मिले हुए शरीर आदि वस्तुओं का आश्रय लक्ष्य से विमुख कर देता है।

यदि साधक अपने साध्य की उपलब्धि के लिए अपने से भिन्न शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का आश्रय स्वीकार न करे, अपितु अपने ही द्वारा शरणागत हो जाय, अथवा तीव्र आवश्यकता अनुभव करें, तो लक्ष्य से दूरी, भेद, भिन्नता प्रतीत नहीं होगी।

3. आत्मीयता स्वीकार करना– अपनी असमर्थता से पीड़ित साधक जब श्रद्धा, विश्वास पूर्वक सर्व-समर्थ की निर्भरता स्वीकार करता है, तब स्वतः वे अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित हो, उसे अपना लेते हैं और फिर दूरी, भेद, भिन्नता शेष नहीं रहती। समर्थ कहते ही उसे हैं, जो सभी को अपना सके।

जिसने अपने ही में से सभी का निर्माण किया है, उससे निर्मित समस्त विश्व उसी के एक अंश-मात्र में है। इस दृष्टि से हम सब उन्हीं में हैं और

वे सभी में होते हुए भी सभी से अतीत भी हैं। उनकी महिमा का कोई वारापार नहीं है। उनकी महिमा की विस्मृति ने ही असमर्थ साधक में निराशा उत्पन्न की है।

यदि साधक उनकी महिमा में अविचल आस्था कर, सब प्रकार से उन्हीं का हो जाय, तो बड़ी ही सुगमतापूर्वक लक्ष्य को प्राप्त कर कृतकृत्य हो सकता है।

साधक का लक्ष्य सभी के लिए उपयोगी होना है। यह माँग साधक की वैधानिक माँग है। उसकी पूर्ति अनिवार्य है। जब साधक अपना अस्तित्व अपनी माँग से भिन्न नहीं पाता, तब सर्व-समर्थ की करुणा से उसकी पूर्ति स्वतः होती है।

उस महा-महिम की करुणा अपार है, अनन्त है, उसका कोई वारापार नहीं है।

साधक तो आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक उन्हें अपना स्वीकार करता है, पर वे स्वयं जानते हैं कि सब मेरे अपने ही हैं; कारण, कि उन्होंने अपने ही में से सभी का निर्माण किया है।

साधक से भारी भूल यही होती है कि अपने निर्माता की महिमा को भूल जाता है और उनकी दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को अपनी मान लेता है और उसका दुरुपयोग करने लगता है। उसी का परिणाम यह होता है कि साधक अपने को असमर्थ पाता है।

यह असमर्थता साधक ने अपनी भूल से उत्पन्न की है। किन्तु असमर्थता से पीड़ित होकर जब वह सर्व-समर्थ की ओर एक बार भी देखता है, तो वे उसकी असमर्थता का अपहरण कर, उसे अपना लेते हैं, यह उनका सहज स्वभाव है।

'सर्व-समर्थ', साधक का भूतकाल नहीं देखते। उसकी वर्तमान वेदना से ही करुणित हो, अपना लेते हैं। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने अपनी असमर्थता का अनुभव किया है और उनकी महिमा को स्वीकार किया है।

जिसे अपना कोई और प्रतीत नहीं होता, जिसे अपने में अपना करके कोई गुण नहीं दिखाई देता और जो लक्ष्य से निराश नहीं होता, वह बड़ी सुगमतापूर्वक उनकी महिमा को स्वीकार कर, उन पर निर्भर हो जाता है।

निर्बलता की पीड़ा में समर्थ की निर्भरता निहित है। निर्भर होते ही फिर और कुछ करना शेष नहीं रहता। जो कुछ नहीं कर पाता, वही निर्भर होता है। इस दृष्टि से कुछ और करने का प्रश्न ही नहीं रहता। निर्भर होते ही निश्चिन्तता, निर्भयता एवं प्रियता की अभिव्यक्ति स्वतः होती है, यह मंगलमय विधान है।

निश्चिन्तता से असमर्थता और निर्भयता से अकर्त्तव्य एवं प्रियता से नीरसता का सदा के लिए स्वतः नाश हो जाता है। इस दृष्टि से असमर्थ से असमर्थ साधक भी लक्ष्य को प्राप्तकर कृतकृत्य होता है। यह सर्व-समर्थ की महिमा है।

असमर्थ साधक के जीवन में सर्व-समर्थ से भिन्न किसी अन्य विश्वास, सम्बन्ध तथा चिन्तन के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता; कारण, कि अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध तथा अन्य चिन्तन के रहते हुए प्रभु-विश्वास सजीव नहीं होता। जब जीवन में एक ही विश्वास रह जाता है, तभी साधक विश्वास-पथ का अधिकारी होता है।

प्रभु-विश्वास का उपयोग उनकी अगाध प्रियता की प्राप्ति में ही होना चाहिए; कारण, कि उनके प्रेम की अभिव्यक्ति किसी अन्य उपाय से साध्य नहीं है।

प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही उदारता तथा असंगता अपने आप आ जाती है; कारण, कि पथ का भेद होने पर भी वास्तविकता में कोई भेद नहीं रहता। सत्य एक है, प्राप्ति के उपाय अनेक हैं।

व्यक्तिगत भिन्नता के कारण उपाय में भले ही भेद हो, पर साध्य में कोई भेद नहीं; कारण, कि साध्य अद्वितीय है। उपाय का आरम्भ भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकता है, किन्तु अन्त में सभी उपाय साध्य की अगाध प्रियता में ही विलीन होते हैं।

प्रियता की जागृति के बिना अहम्-भावरूपी अणु का नाश नहीं होता। और उसके बिना हुए सर्वांश में दूरी, भेद भिन्नता का नाश नहीं होता। निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता आदि दिव्य गुणों का आश्रय पाकर अहम्-भाव ज्यों-का-त्यों जीवित रहता है, किन्तु अगाध प्रियता की जागृति होने पर अहम् रूपी अणु प्रियता से अभिन्न हो, प्रेमास्पद को रस देने में समर्थ होता है। यह प्रीति की महिमा है।

जिसे भोग और मोक्ष भी नहीं भाते, उसी को करुणामय अपनी प्रीति प्रदान करते हैं। इसका कारण यह है कि उनके पास उसको देने के लिए और कुछ शेष ही नहीं रहता। साधक उनकी दी हुई प्रीति को पाकर ही उनके लिए उपयोगी होता है। मोक्षार्थी अपने लिए उपयोगी होता है।

बेचारा भोगार्थी तो सुख की दासता तथा दुःख के भय में ही आबद्ध रहता है, अर्थात् वह अपने ही लिए अनुपयोगी हो जाता है। यद्यपि मानव-जीवन सभी के लिए उपयोगी होने के लिए मिला है, परन्तु मानव अपने लक्ष्य की विस्मृति से अपने आप अपनी दुर्दशा कर लेता है।

यदि साधक बीज-रूप से विद्यमान माँग को जाग्रत कर असमर्थ एवं भयभीत दशा में भी अपने रचयिता की महिमा को स्वीकार करें, तो उसे भी वही जीवन मिल सकता है, जो किसी भी महामानव को मिला है; कारण, कि लक्ष्य से मानव की जातीय तथा स्वरूप की एकता है। बेचारा मानव प्रमादवश मानव-जीवन की महिमा को नहीं अपनाता, यह उसकी अपनी बनाई हुई दशा है। प्राकृतिक नियमानुसार प्रत्येक दशा में सतत् परिवर्तन होता रहता है। इस दृष्टि से सभी अवस्थाओं से अतीत के जीवन की माँग जाग्रत होते ही उसकी पूर्ति स्वतः होती है। अतएव वास्तविक जीवन से किसी भी साधक को निराश नहीं होना चाहिए। महा-महिम की अहैतुकी कृपा सतत् बरस रही है। उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास करते ही साधक का सर्वतोमुखी विकास होता है।

कामना-पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व में आबद्ध मानव जब अपने को पराधीनता, नीरसता और अभाव से पीड़ित पाता है, तब वास्तविक माँग

की जागृति होती है, जिसकी पूर्ति किसी भी परिस्थिति से सम्भव नहीं है। इतना ही नहीं, समस्त सृष्टि मिलकर किसी एक व्यक्ति की भी पराधीनता, अभाव तथा नीरसता का अन्त नहीं कर सकती। तब स्वभाव से ही उस सुने हुए प्रभु की ओर आकर्षण होता है, जिसे देखा नहीं, अपितु सन्तों, भक्तों तथा सद्ग्रन्थों से सुना है।

सुने हुए में आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है; कारण, कि आत्मीयता से ही प्रियता की अभिव्यक्ति होती है, अथवा यों कहो कि साधक जिसे अपना कह कर स्वीकार करता है तथा जिसकी आवश्यकता अनुभव करता है, उसकी अखण्ड स्मृति स्वतः जाग्रत होती है। ऐसा होते ही इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि सभी करण अपने-अपने विषय से विमुख हो, स्मृति में विलीन हो जाते हैं और फिर आत्मीयता से जागृत प्रियता ही शेष रहती है।

प्रियता ज्यों-ज्यों सबल तथा स्थायी होती जाती है, त्यों-त्यों प्रेमास्पद से दूरी, भेद, भिन्नता स्वतः मिटती जाती है, अर्थात् योग, बोध और प्रेम की प्राप्ति स्मृति की जागृति मात्र से ही हो जाती है। स्मृति साधक में जाग्रत होती है, यह शरीर-धर्म नहीं है। शरीर पर स्मृति का प्रभाव होता है। इतना हीं नही, स्मृति की जागृति शरीर के तादात्म्य को नष्ट कर देती है। शरीर का तादात्म्य तो केवल उसी समय तक रहता है, जब तक मानव प्रमादवश कामना-पूर्ति में ही जीवन-बुद्धि स्वीकार करता है।

श्रद्धा तथा विश्वास-पथ का साधक अपनी निर्बलताओं से पीड़ित हो, प्रभु की महिमा को स्वीकार करता है, जिससे विश्वास की अभिव्यक्ति होती है। विश्वासी का विश्वास से भिन्न और कुछ अस्तित्व नहीं रहता। परन्तु जब तक वह एक से अधिक विश्वास रखता है, तब तक विश्वासी और विश्वास में भेद प्रतीत होता है।

अब यदि कोई यह कहे कि विश्वासी तो विश्वास से पूर्व भी अपना अस्तित्व स्वीकार करता था। इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रभु-विश्वासी अन्य-विश्वासों को त्याग, अपने द्वारा

प्रभु–विश्वास को स्वीकार करता है, अर्थात् विश्वास की स्थापना विश्वासी अपने में करता है, जिसके करते ही विश्वास–पात्र से नित्य सम्बन्ध सिद्ध होता है और फिर विश्वासी में अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है।

स्मृति जिसमें जाग्रत होती है, उसे अपने से अभिन्न कर लेती है, अर्थात् स्मृति–मात्र ही उसका अस्तित्व रह जाता है। पर जिसके प्रति होती है, उसके लिए रस–रूप होती है। यह स्मृति की महिमा है। इतना ही नहीं, स्मृति में उसी की सत्ता है, जिसकी वह स्मृति है। इस दृष्टि से अखण्ड स्मृति साधक का जीवन और साध्य का स्वभाव है।

जिसकी उपलब्धि किसी अन्य प्रकार से नहीं होती, उसकी उपलब्धि स्मृति–मात्र से ही होती है। स्मृति उसकी होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है और जो सदैव, सर्वत्र सभी का अपना है, अर्थात् अपने ही की अपने में स्मृति जाग्रत होती है, जो विस्मृति का अन्त कर साधक को साध्य से अभिन्न करती है।

अभिन्नता प्रीति की प्रतीक है, अर्थात् साधक प्रीति होकर अपने प्रीतम के लिए उपयोगी होता है–यह प्रीति की महिमा है, जो एकमात्र अखण्ड स्मृति से ही साध्य है। स्मृति जाग्रत होते ही प्रत्येक प्रवृत्ति पूजा हो जाती है और प्रत्येक घटना में साधक को अपने साध्य की अनुपम लीला का ही दर्शन होता है। अतः स्मृति जागृति के लिए निर्मम, निष्काम होकर साध्य से आत्मीयता स्वीकार करना अनिवार्य है।

मिला हुआ शरीर और देखा हुआ संसार आस्था करने योग्य नहीं है; कारण, कि आस्था उसी में की जा सकती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो, अर्थात् जो अविनाशी हो। इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि के द्वारा अविनाशी को देखा नहीं; किन्तु अपने में अविनाशी जीवन की माँग अवश्य है। माँग उसी की होती है, जिसका अस्तित्व है।

विचारशील माँग के आधार पर और विश्वासी भक्तों, सन्तों तथा ग्रन्थों के आधार पर उसमें आस्था करते हैं, जो अगोचर है। मानव के लिए जो अगोचर है, वह स्वयं सर्व का ज्ञाता है। साधक को किस में

आस्था करनी है? जिसे वह नहीं जानता, अपितु जो उसे जानता है।

जब यदि कोई यह कहे कि हम कैसे स्वीकार करें कि वे हमें जानते हैं, जिन्हें हम नहीं जानते। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि क्या कोई भी मिल्कियत बे-मालिक के होती है? क्या कोई भी उत्पत्ति बिना आश्रय के होती है? क्या कोई भी प्रतीति बिना प्रकाशक के होती है? कदापि नहीं। क्या कोई अपने रचयिता को जान सकता है? कभी नहीं। किन्तु रचना का कोई रचयिता है, इसमें किसी को विकल्प नहीं होता। इस दृष्टि से शरीर और संसार की उत्पत्ति जिससे हुई है, उसे स्वीकार करना अनिवार्य है। अतः जो कुछ मिला हुआ तथा देखा हुआ प्रतीत होता है, उस मिल्कियत का कोई मालिक है।

विकल्प-रहित भाव से उसे स्वीकार करने का नाम ही आस्था है। साधक ने जिसमें आस्था की है, वह कैसा है, कहाँ है, क्या करता है-ये प्रश्न आवश्यक नहीं है; कारण, कि सभी का आश्रय तथा प्रकाशक अद्वितीय है। उसने अपने में से सभी का निर्माण किया है और अपने ही में सभी को आश्रय दिया है। उसके सम्बन्ध में जिस किसी ने जो कुछ कहा है, वह उसकी दृष्टि से सही होने पर भी अधूरा है; कारण, कि विश्व-नियन्ता एक है। उससे निर्मित मानव उसके सम्बन्ध में सीमित दृष्टि से जितना कहेगा, कम होगा, अर्थात् विश्व के रचयिता का वर्णन उसकी रचना नहीं कर सकती, किन्तु साधक उसमें अविचल आस्था कर सकता है। उसकी महिमा को स्वीकार करना आस्थावान में श्रद्धा उत्पन्न करता है।

जब साधक यह स्वीकार कर लेता है कि 'उस महा-महिम की महिमा का वारापार नहीं है', तब उसमें स्वतः श्रद्धा की अभिव्यक्ति होती है।

श्रद्धा के जाग्रत होते ही अन्य विश्वास, अन्य सम्बन्ध, अन्य चिन्तन नहीं रहते और फिर एक ही विश्वास, एक ही सम्बन्ध, एक ही चिन्तन रह जाता है। इस दृष्टि से आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक साधक उस अद्वितीय, सर्व-समर्थ से जातीय एकता तथा नित्य सम्बन्ध स्वीकार करता है और फिर स्वतः अखण्ड स्मृति जाग्रत होती है।

शरीर आदि समस्त विश्व उनका है और वे अपने हैं। उन्हीं के नाते, उन्हीं की दी हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा उन्हीं के विश्व की पूजा-भाव से सेवा करना और सब प्रकार से उन्हीं के होकर रहना साधक का सहज स्वभाव हो जाता है। सेवा-सामग्री वे स्वयं प्रदान करते रहते हैं। सेवा के द्वारा वे साधक के जीवन को विश्व के लिए उपयोगी सिद्ध करते हैं, यह उनकी महिमा है।

सेवा पराधीनता से स्वाधीनता की ओर स्वतः अग्रसर कर देती है, जिससे साधक अपने लिए उपयोगी हो जाता है। उसमें किसी प्रकार की पराधीनता नहीं रहती।

विश्वासी साधक स्वाधीनता का आश्रय पाकर सन्तुष्ट नहीं होता, अपितु अपने विश्वास-पात्र की आत्मीयता से जागृत प्रियता ही उसे भाती है, जिससे साधक का जीवन अपने रचयिता के लिए उपयोगी होता है। इस दृष्टि से साध्य की अहैतुकी कृपा से निर्मित साधक सभी के लिए उपयोगी हो जाता है। यह वास्तव में साध्य ही की महिमा है। पर यह रहस्य वे ही साधक जान पाते हैं, जिन्होंने आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति स्वीकार की है।

शरणागत साधक अपने में अपना करके कुछ नहीं पाता। शरण्य की अहैतुकी कृपा का आश्रय ही उसका सर्वस्व है। शरण्य अपनी कृपा से आप मोहित हो, शरणागत को अपना लेते हैं और फिर उसका जीवन सभी के लिए उपयोगी बना देते हैं। इस दृष्टि से उनकी महिमा का कोई वारापार नहीं है। उस महा-महिम की महिमा की विस्मृति से ही मानव अनाथ हो जाता है। पर अनाथ होने पर भी सनाथ होने की अभिरुचि बीज-रूप से मानव में बनी ही रहती है। यदि मानव उस अभिरुचि को सबल बनाकर किसी प्रकार से महा-महिम की महिमा को स्वीकार कर ले, तो दीर्घकाल का अनाथपन तुरन्त नाश हो जाता है और फिर साधक सनाथ होकर कृतकृत्य हो जाता है, यह निर्विवाद सत्य है।

यदि कोई मानव बिना देखे, सुने हुए विश्व-नियन्ता में आस्था, श्रद्धा,

विश्वास नहीं कर सकता, तो फिर उसके जीवन में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करने के लिए कोई स्थान ही नहीं रहता। विश्वास से सम्बन्ध की स्थापना होती है और सम्बन्ध से स्मृति जाग्रत होती है।

यदि मानव मिले हुए शरीर तथा देखे हुए संसार पर विश्वास करेगा, तो उसमें अनेक आसक्तियों की उत्पत्ति होगी, पर मिले हुए शरीर आदि को भी रख नहीं सकेगा। केवल लोभ, मोह, दीनता, अभिमान, परिच्छिन्नता आदि विकारों में ही आबद्ध हो जाएगा। इस दृष्टि से सुने हुए प्रभु से भिन्न कोई भी आस्था, श्रद्धा, विश्वास के योग्य नहीं है।

अब यदि कोई यह कहे कि संसार और शरीर पर तो विश्वास नहीं करूँगा, किन्तु अपने में विश्वास करूँगा। तो इस सम्बन्ध में यह अनिवार्य होगा कि ''मैं क्या हूँ''-इसकी खोज की जाय। शरीर आदि समस्त दृश्य जिसे मानव 'यह' करके स्वीकार करता है, उसे 'मैं' कह नहीं सकता और आत्मा, परमात्मा करके जिसे सुना है, उसे भी 'मैं' नहीं कह सकता। 'यह' और 'वह' से रहित जिसे 'मैं' करके स्वीकार करता है, उसमें कोई माँग है। स्वभाव-जनित जिज्ञासा और लालसा और भूल-जनित काम मानव अपने ही में पाता है। काम की निवृत्ति भूल-रहित होने से होती है। काम की निवृत्ति से ही जिज्ञासा-पूर्ति की सामर्थ्य आती है। जिज्ञासा की पूर्ति होने पर स्वतः लालसा की पूर्ति होती है और फिर मानव अनुपयोगी नहीं रहता। अतः सुने हुए प्रभु में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना अथवा अपनी खोज करना-ये दोनों स्वतन्त्र पथ हैं।

दोनों पथों से जिस वास्तविक जीवन की उपलब्धि होती है, वह जीवन एक है।

आस्था, श्रद्धा, विश्वास एकमात्र उन्हीं में किया जा सकता है, जिन्हें सुना है; इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि से जाना नहीं है। इन्द्रिय आदि से जो कुछ जाना जाता है, उस पर विचार किया जा सकता है, विश्वास नहीं। शरीर आदि मिली हुई वस्तुओं का सदुपयोग किया जा सकता है, विश्वास नहीं। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि आस्था, श्रद्धा, विश्वास एकमात्र अपने रचयिता में ही किया जा सकता है।

पुरुषार्थ के आधार पर साधक निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता प्राप्त कर सकता है; किन्तु उन सभी को वह अपने ही में स्थापित करेगा अर्थात्, 'मैं निर्विकार, शान्त, स्वाधीन हूँ।' किन्तु आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति के बिना निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता में रमण का त्याग नहीं कर सकता; कारण कि अहम्-भावरूपी अणु निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता आदि का आश्रय पाकर, ज्यों-का-त्यों पुष्ट रहता है और यह अनुभव करता है कि मैं अपनी भूल से विकारों में आबद्ध हो गया था। और भूल-रहित होने से निर्विकारता प्राप्त हो गई।

अब विचार यह करना है कि भूल-रहित होने की सामर्थ्य यदि अपनी ही थी, तो फिर भूल क्यों की? अपने को विकारी बनाने में प्रवृत्ति क्यों हुई? कभी तो भूल-रहित था ही, अर्थात् निर्विकारता से विकारों में आबद्ध क्यों हो गया? इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि साधक अपने रचयिता की महिमा को स्वीकार कर शरणागत नहीं हुआ, अथवा यों कहो कि मिली हुई स्वाधीनता आदि को अपना मान लिया। इसी कारण निज-ज्ञान का अनादर कर विकारों में आबद्ध हो गया।

जब तक साधक मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य को किसी की देन नहीं मानेगा और अपने आश्रय तथा प्रकाशक को स्वीकार नहीं करेगा, तब तक अहम्-भाव के कारण मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर सकता है। इस कारण अपने आश्रय की श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति स्वीकार करना अनिवार्य है।

शरणागति स्वीकार करते ही, 'यह' और 'मैं' दोनों पर शरण्य की सील लग जाती है, जिसके लगते ही अपने में अपना करके कुछ नहीं रहता, केवल वे ही अपने रह जाते हैं। जो सर्व-समर्थ सभी के अपने हैं, उनकी आत्मीयता ही अपना जीवन रह जाती है। आत्मीयता अगाध प्रियता की जननी है, आत्मीयता प्रियता होकर सर्वाधार को रस देने में समर्थ होती है। साधक का अहम्-भाव साध्य की प्रीति हो जाता है, जो एकमात्र आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक शरणागति से ही साध्य है।

अहम् का नाश गुण-दोष रहित होने से ही सम्भव है। साधक पुरुषार्थ

पूर्वक दोष-रहित होकर किसी-न-किसी गुण में आबद्ध हो जाता है। साध्य की महिमा स्वीकार करते ही साध्य अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित हो, गुणों के आश्रय से रहित कर, अपनी प्रियता प्रदान करते हैं। इतना ही नहीं, अपनी प्रियता देकर आप रीझ जाते हैं। यह साध्य की महिमा है। फिर भी साधक उस महा-महिम की महिमा को अपना कर, आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक उनका न हो जाय, इससे बढ़कर और कोई भारी भूल हो ही क्या सकती है? इस भूल का अन्त शीघ्रातिशीघ्र करना आस्तिक के लिए अनिवार्य है।

शरणागति दीनता नहीं है, अपितु नित्य-सम्बन्ध की स्मृति है। नित्य सम्बन्ध के विस्मृति-काल में ही मानव दीनता, अभिमान आदि विकारों में आबद्ध होता है। अभिमान के रहते हुए भेद और भिन्नता का नाश नहीं होता। उसके नाश हुए बिना पराधीनता, जड़ता, अभाव आदि शेष रहते ही हैं। इस कारण साधक को अपने नित्य-सम्बन्ध की स्मृति जाग्रत करना अनिवार्य है, जो एकमात्र, आस्था, श्रद्धा, विश्वासपूर्वक शरणागति से ही साध्य है।

विस्मृति से ही समस्त विकारों की उत्पत्ति होती है। कर्त्तव्य की विस्मृति से अकर्त्तव्य की, निज-स्वरूप की विस्मृति से देहाभिमान की एवं प्रभु की विस्मृति से अनेक अनित्य सम्बन्धों की उत्पत्ति होती है, जो विनाश का मूल है। इस कारण प्रत्येक साधक को अपनी भूल से उत्पन्न हुई विस्मृति का अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र साधन-निधि के सम्पादन से ही सम्भव है।

कोई भी मानव मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा वास्तविक जीवन से अभिन्न नहीं हो सकता; कारण, कि मिली हुई वस्तु, सामर्थ्य, योग्यता आदि का सदुपयोग जगत् के लिए उपयोगी होता है, अपने लिए नहीं। हाँ, यह अवश्य है कि जगत् के लिए उपयोगी होने पर साधक जगत् से अतीत के जीवन का अधिकारी हो जाता है अर्थात् वह अपने लिए जगत् की ओर नहीं देखता। जगत् की ओर से आया हुआ मान और भोग भी उसे सन्तुष्ट नहीं कर पाता। तब साधक अत्यन्त व्याकुल हो, उस जीवन

के लिए आकुल हो जाता है, जिसमें किसी प्रकार की नीरसता, पराधीनता तथा अभाव नहीं है, अर्थात् अत्यन्त दुःख की निवृत्ति ही उसकी माँग रह जाती है। पर उसकी पूर्ति के लिए स्वयं कुछ नहीं कर सकता। उस माँग-मात्र को देख, कोई उसका अपना है, जिसको उसने स्वीकार भी नहीं किया, उसकी माँग की पूर्ति कर देता है। जिसके होते ही अहम् नाश हो जाता है।

परम व्याकुलता की जागृति पुरुषार्थ की समाप्ति में होती है। अर्थात् व्याकुलता से जिसकी उपलब्धि होती है, वह पुरुषार्थ-साध्य नहीं है, किन्तु व्याकुलता उसके लिए होती है, जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व है। उसी में जीवन है। उसी की प्राप्ति अभाव का अभाव करती है। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि जो सदैव सभी का है, उसी की प्राप्ति होती है। उसके स्वीकार करने से उसकी कोई महिमा नहीं बढ़ती और अस्वीकार करने से उसकी कोई क्षति नहीं होती; किन्तु उसकी माँग तो सभी में है ही।

जब केवल माँग रह जाती है, तब उसकी पूर्ति उसके द्वारा होती है जो 'है'। 'है' को स्वीकार करो अथवा न करो; किन्तु प्राप्ति तो 'है' की ही होती है। यह 'है' की ही महिमा है। साधक की परम व्याकुलता जिससे सहन नहीं होती, वह अपनी करुणा से करुणित हो, साधक की वास्तविक माँग की पूर्ति कर देता है, यह उसका स्वभाव है।

माँग जिसकी होती है, उसमें विलीन होते ही सीमित अहम्-भाव सदा के लिए नष्ट हो जाता है। तब किसी प्रकार की पराधीनता, अभाव तथा नीरसता शेष नहीं रहती, इस दृष्टि से वास्तविक माँग की जागृति में ही जीवन की पूर्णता निहित है।

जिसने साधक का निर्माण किया है, उसी ने माँग प्रदान की है और वही पूर्ति करता है। उसमें आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना अथवा उसकी दी हुई माँग के लिए परम व्याकुल होना, दोनों ही प्रकार से साधक साधन-निष्ठ हो कृतकृत्य हो जाता है। अतः अपने रचयिता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना यद्यपि साधक के लिए स्वभाविक है, परन्तु यदि कोई साधक अपने रचयिता में आस्था, श्रद्धा, विश्वास करना स्वीकार नहीं

करता, तो भी उसे अपनी माँग की पूर्ति के लिए परम व्याकुल तो होना ही है। माँग की पूर्ति होने पर तो जो सभी का अपना है, उससे अभिन्नता होती ही है। अतः साधक अपनी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य के अनुसार साधन-निधि से सम्पन्न होने में सर्वदा स्वाधीन तथा समर्थ है।

उपसंहार

यह सभी को मान्य होगा कि असत् के संग से ही मानव में अकर्त्तव्य, असाधन और आसक्ति आदि विकारों का जन्म होता है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी मानव सर्वांश में असत् का संग नहीं कर पाता, इस कारण प्रत्येक मानव में आंशिक कर्त्तव्य, साधन तथा अनासक्ति रहती ही है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में जब मानव अपने को साधक स्वीकार कर लेता है, तब सत्संगी होकर, उत्पन्न हुए अकर्त्तव्य, असाधन तथा आसक्तियों से रहित हो, साधन-निधि से सम्पन्न होता है।

साधन-निधि साधक की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज से वही उपलब्ध होता है, जो सदैव, सर्वत्र विद्यमान है। साधन-निधि साध्य का स्वभाव है और साधक का जीवन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निधि से अभिन्न हो, साध्य को पाता है।

सत्संग साधक का सहज तथा स्वाभाविक स्वधर्म है। उसके अपना लेने में किसी प्रकार की असमर्थता तथा पराधीनता नहीं है। परन्तु साधन तथा असाधन के द्वन्द्व में आबद्ध मानव सर्वांश में जब तक सत्संग को अपनाये बिना, बलपूर्वक अपने में साधनों का आरोप कर, असाधन से रहित होने का प्रयास करता रहता है, तब तक असफलता ही पाता है।

बलपूर्वक किया हुआ साधन, साधक में मिथ्या अभिमान ही उत्पन्न करता है, जो वास्तव में प्रमाद ही है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; कारण, कि प्रमाद ही सर्वनाश का मूल है।

साधन-निधि अविनाशी साध्य का अविनाशी स्वभाव है। सत्संग से ही साधन-निधि से अभिन्नता होती है। सत्संग उसे नहीं कहते, जिसे साधक

प्रत्येक परिस्थिति में स्वाधीनता पूर्वक नहीं कर सकता।

प्रत्येक परिस्थिति सुख-दुःख से भिन्न कुछ नहीं है। सुख की दासता, दुःख का भय किसी भी मानव को अभीष्ट नहीं है। सुख बना रहे, दुःख न आए, यह भले ही कोई पसन्द करता हो, पर सुख का चला जाना तथा दुःख का आना-यह वैधानिक तथ्य है। अर्थात् सुख जाता ही है। और दुःख आता ही है। इस विधान में मानव का अमंगल नहीं है, अपितु मंगल ही है।

यदि आया हुआ सुख न जाता, तो जड़ता का कभी नाश न होता और यदि दुःख न आता, तो कोई भी सजगता पूर्वक दुःख निवृत्ति के लिए तत्पर न होता। यदि दुःख का अन्त सुख में हो जाता और पुनः सुख नवीन दुःख को जन्म न देता, तो मानव साधक होने के लिए कभी तत्पर ही न होता। और साधक बिना हुए सत्संग का प्रश्न ही न आता तथा सत्संग के बिना साधन-निधि की अभिव्यक्ति ही न होती। ऐसी दशा में मानव अपने परम सुहृद रचयिता से विमुख ही रहता। इस दृष्टि से सुख का चला जाना और दुःख का आना मंगलकारी है।

मानव मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से अपना विनाश आप करता है। अतएव स्वाधीनता के दुरुपयोग का साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग और दुरुपयोग का परिणाम वैधानिक है; किन्तु मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग अथवा सदुपयोग मानव स्वयं करता है। स्वाधीनता का दुरुपयोग न करने पर सदुपयोग स्वतः होने लगता है।

अब विचार यह करना है कि मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग क्या है, जिसे नहीं करना चाहिए? इस सम्बन्ध में विचार करने से यह स्पष्ट विदित होता है कि प्रत्येक मानव को विचार, भाव तथा क्रिया-शक्ति मिली है। जब मानव निज-विवेक के प्रकाश से प्रकाशित तथा पवित्र भाव से भावित हो, लक्ष्य पर दृष्टि रखते हुए, मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य

आदि का उपयोग नहीं करता–यही मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग है।

मानव यह जानते हुए भी कि उसे ईमानदार, श्रमी तथा हित–चिन्तक साथी चाहिए, वह स्वयं अपने साथियों के लिए वैसा नहीं होता। क्या यह मानव की अपनी ही भूल नहीं है? इस भूल को रखते हुए क्या कोई अपने सत्य को अपना सकता है? इस अपने सत्य को अपनाए बिना, क्या कोई सुन्दर हो सकता है? सुन्दर बिना हुए, अपनी, समाज की तथा रचयिता की दृष्टि में, क्या कोई आदर के योग्य हो सकता है? कदापि नहीं।

अपनी दृष्टि में अपने को आदर के योग्य वही रख सकता है, जिसने सत्संग से प्राप्त साधन–निधि को अपनाया है।

यह सभी को विदित है कि मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य किसी की देन है। वह दाता भले ही अपना हो, पर उसकी दी हुई वस्तु, योग्यता आदि अपनी नहीं है। यह प्राकृतिक नियम है, कि जो अपनी नहीं है, वह अपने लिए भी नहीं है। अपना ही अपने लिए होता है। यह जानते हुए भी मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य की ममता और उसका दुरुपयोग मानव अपनी ही भूल से करता है। उसका परिणाम उसे सभी के लिए अनुपयोगी सिद्ध कर देता है।

मिली हुई वस्तु आदि की ममता अनेक विकारों को जन्म देती है। विकार–युक्त जीवन सभी के लिए अनुपयोगी ही होता है। निर्ममता से प्राप्त 'निर्विकारता' और मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि के सदुपयोग से प्राप्त 'उदारता' सभी के लिए उपयोगी है।

जब साधक में निर्विकारता तथा उदारता की अभिव्यक्ति हो जाती है, तब उसमें निष्कामता तथा अपने अधिकार के त्याग का बल भी आ जाता है, जिसके आते ही साधक में चिर–शान्ति तथा राग से रहित स्वाधीनता की अभिव्यक्ति एवं क्रोध से रहित स्मृति की जागृति होती है, जिसके होते ही साधक को अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता।

अहंकृति–रहित होते ही अहम्–भाव रूपी अणु गल जाता है। फिर साधक की साध्य से दूरी, भेद, भिन्नता नहीं रहती, अर्थात् योग, बोध,

प्रेम की प्राप्ति होती है, अथवा यों कहो कि साधन-निधि से अभिन्नता हो जाती है।

यह मिली हुई स्वाधीनता के सदुपयोग का परिणाम है। इस दृष्टि से मिली हुई स्वाधीनता के दुरुपयोग से ही मानव का विनाश हुआ है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है।

जीवन को अपने लिए उपयोगी सिद्ध करने के लिए निर्ममता, निष्कामता, अपने अधिकार का त्याग तथा अहंकृति-रहित होना अनिवार्य है। अपने लिए उपयोगी होने पर ही साधक जगत् और जगत्पति के लिए उपयोगी होता है, यह निर्विवाद सत्य है।

अपने लिए उपयोगी होने पर उदारता और प्रियता स्वतः जाग्रत होती है; कारण, कि जिसे अपने लिए कुछ भी करना शेष नहीं रहता, वह साधक मिली हुई वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य के द्वारा जगत् की सेवा स्वतः करने लगता है; अथवा यों कहो कि सेवा उससे अपने आप होने लगती है। क्रियात्मक सेवा से भावात्मक सेवा उदित होती है, जिससे साधक के जीवन में उदारता की अभिव्यक्ति होती है। उदारता के आते ही साधक की सभी के साथ आत्मीयता हो जाती है, अर्थात् वह अपने समान ही समस्त विश्व को मानने लगता है।

वह किसी को भय नहीं देता और न किसी से भयभीत होता है। इतना ही नहीं, वह सभी की वर्तमान निर्दोषता में अविचल आस्था रखता है।

यदि कोई अपराधी अपनी भूल स्वयं स्वीकार करे, तो भी वह उसे यही परामर्श देता है कि तुम स्वयं की हुई भूल मत दोहराओ, वर्तमान तो निर्दोष है ही। इस भावना और प्रवृत्ति से अपराधी निरपराध होने में तत्पर होता है। इस दृष्टि से उदारता साधक को जगत् के लिए उपयोगी सिद्ध करती है।

यदि कोई इस उदार साधक के साथ स्वयं बुराई करे, तो भी उसे उस पर करुणा ही आती है, क्रोध नहीं आता; कारण, कि अपने लिए उपयोगी

होने के नाते उसके जीवन में किसी प्रकार की पराधीनता, अभाव और नीरसता तो रहती नहीं, दूसरों की ओर से होने वाली बुराई उसे क्षुभित नहीं कर पाती, अपितु उसका हृदय करुणा से भर जाता है।

वह इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित है कि जिस बेचारे ने प्रमादवश अपने ही साथ बुराई की है, उससे यदि शरीर, वस्तु आदि की कोई क्षति हो रही है, तो वह करुणा का पात्र है, क्रोध का नहीं।

साधक की वह करुणा निरर्थक नहीं जाती, अपितु बुराई करने वाले के लिए भी मंगलकारी सिद्ध होती है। साधक की उदारता साध्य की करुणा है; कारण, कि साधक में साध्य की सत्ता से भिन्न और कुछ रहता ही नहीं। उदारता की अभिव्यक्ति होने पर साधक को यह भास नहीं होता कि मुझ में उदारता है।

अपने में गुणों का भास होना तो अपने लिए अनुपयोगी होना है; कारण, कि गुणों का आश्रय लेकर अहम्भाव रूपी अणु पोषित होता है और गुणों का भास पर-दोष दर्शन को जन्म देता है, जो विनाश का मूल है।

अपने लिए उपयोगी होने पर दोषों की उत्पत्ति नहीं होती और गुणों का अभिमान नहीं रहता अथवा यों कहो कि साध्य की महिमा ही साधक के द्वारा प्रसारित होती रहती है; कारण, कि उपयोगी साधक में अपने में अपना करके कुछ नहीं रह जाता।

साधन-निधि साध्य ही का तो स्वभाव है और वही साधक का जीवन है। साधन और जीवन में भिन्नता अनुपयोगी दशा में ही शेष रहती है। उपयोगी होने पर साधक और जीवन में भिन्नता नहीं रहती। साधन जीवन और जीवन साधन हो जाता है। साधक की दृष्टि में साध्य से भिन्न की सत्ता ही नहीं रहती। साधक साध्य की प्रियता से भिन्न अपना कोई अस्तित्व नहीं पाता। साध्य की प्रियता ही जगत् के प्रति उदारता है। अतः जो अपने लिए उपयोगी सिद्ध होता है, वही जगत् और जगत्पति के लिए उपयोगी सिद्ध होता है।

किसी को बुरा समझना, किसी का बुरा चाहना, और किसी भी कारण से किसी के प्रति बुराई करने की प्रवृत्ति तो उसी मानव में रहती है जो अपने लिए अनुपयोगी है।

अपने लिए अनुपयोगी बिना हुए कोई भी किसी की क्षति नहीं कर सकता। कोई दुःखी होकर ही अन्य को दुःख देता है। दुःख की अन्ततः निवृत्ति न होना अपने लिए अनुपयोगी होना सिद्ध करता है।

जब तक मानव अपने लिए अनुपयोगी है, तब तक उसे सब ओर से विमुख होकर अपने लिए उपयोगी होने के लिए सतत प्रयत्नशील रहना अनिवार्य है।

उस दशा में भी पर-दोष दर्शन के लिए साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है; कारण, कि पर-दोष दर्शन करने से अपने दोषों का स्पष्ट दर्शन नहीं होता, अपितु साधक अपनी दोष-युक्त दशा को सहन करता रहता है, जो विकास में बाधक है।

यह सभी को मान्य होगा कि प्रभु, आत्मा और जगत् के नाते सभी अपने हैं। फिर सभी के प्रति अपने समान उदारता और अपने प्रति दूसरों के समान न्याय न करना भूल है, जिसका साधक के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है। जिससे कभी कोई भूल न हुई हो, वह तो साधक श्रेणी में आता ही नहीं। उसे तो जन्मजात स्वतः सिद्ध मानना चाहिए। जिसका भूतकाल सदोष रहा हो, उसे किसी को भयभीत करने का अधिकार नहीं रहता।

वास्तविक न्याय तो अपने द्वारा अपने ही प्रति होता है। अपनी भूल से पीड़ित होना, उसे पुनः न दोहराना ही तो न्याय है। न्याय से वर्तमान निर्दोषता सुरक्षित रहती है। पर दूसरों के प्रति न्याय करने का अधिकार साधक को नहीं है। राष्ट्र के द्वारा भी समुचित न्याय हो नहीं पाता। यदि ऐसा सम्भव होता, तो समाज में बुराई न रहती। इस दृष्टि से भयभीत को वर्तमान निर्दोषता की आस्था देकर करुणा और स्नेहपूर्वक सहयोग देना ही साधक का स्वभाव है।

जो मानव किसी अपराधी को भयभीत करता है और यह सोचता है कि भय देने से समाज में बुराई नहीं फैलेगी, यह मान्यता भ्रमात्मक है। बुराई-रहित होकर सभी को आदर, प्यार देने से ही समाज में निर्दोषता व्यापक होती है।

जो प्राणी सूर्य का प्रकाश पाता है, जल जिसकी प्यास बुझाता है, वायु जिसको साँस लेने देती है, आकाश जिसे अवकाश देता है, विश्व-नियन्ता की अहैतुकी कृपा जिसे अपनाने के लिए तत्पर है, क्या वह मानव की तुच्छ उदारता का अधिकारी नहीं है? अवश्य है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है, जब मानव अपने को साधक स्वीकार कर, अपनी ओर देखे।

किस अपराधी ने जगत् और जगत्पति से क्षमा की याचना नहीं की? वर्तमान निर्दोषता को सुरक्षित रखने पर, किस साधक को जगत् की उदारता एवं प्रभु की कृपालुता का अनुभव नहीं हुआ? अर्थात् सभी को हुआ।

अब केवल यही प्रश्न रह जाता है कि साधक को जगत् के प्रति क्या करना चाहिए? तो सत्संग से प्राप्त साधन-निधि से यही प्रेरणा मिलती है कि किसी को बुरा न समझो, किसी का बुरा न चाहो, किसी के प्रति बुराई न करो। इस महामन्त्र को अपनाते ही जीवन जगत् के लिए उपयोगी होता ही है, पर अपना भी कल्याण होता है; कारण, कि जो जीवन दूसरों के लिए उपयोगी हो जाता है, उसका परिणाम अपने लिए भी उपयोगी होता है। और जो अपने लिए उपयोगी हो जाता है, वह सभी के लिए उपयोगी हो जाता है। इस दृष्टि से साधक को सजगतापूर्वक दूसरों के लिए उपयोगी होकर, अपने लिए उपयोगी होना और अपने लिए उपयोगी होकर सभी के लिए उपयोगी होना अनिवार्य है।

यह सभी को मान्य होगा कि साधक का अस्तित्व जगत् और जगत्पति से भिन्न नहीं है। जिस किसी में जो कुछ है, वह जगत् और जगत्पति का ही है। यदि साधक के शरीर का सम्बन्ध जगत् से है, तो

उसका सम्बन्ध जगत्पति से है। यदि अपने को जगत्पति को अर्पित करना है, तो शरीर को जगत् की सेवा में लगाना है। वास्तव में तो जगत् जगत्पति का ही प्रकाश है। शरीर द्वारा जगत् की सेवा करने में भी जगत्पति की ही सेवा है। जगत्पति ने जगत् का निर्माण अपने ही में से किया है। इस दृष्टि से जगत् का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है। अतः जगत् की सेवा जगत्पति की पूजा है और जगत्पति की आत्मीयता से जाग्रत जो अखण्ड स्मृति तथा अगाध प्रियता है, वह जगत्पति के लिए रसरुप है ही, उसकी सद्भावना और उदारता जगत्पति के नाते, जगत् के लिए है। जगत् को साधक की उदारता और जगत्पति को उसकी प्रियता अभीष्ट है।

प्रियता और उदारता तभी सुरक्षित रहती है, जब साधक को किसी से कुछ नहीं चाहिए। जगत्पति की प्रियता ही में जीवन की पूर्णता है। निर्विकारता, शान्ति, स्वाधीनता आदि में सन्तुष्ट न होने पर ही जगत्पति अपनी प्रियता प्रदान करते हैं। अतएव प्रियता की जागृति होने पर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। इस दृष्टि से जिसे अपने लिए कुछ भी करना व पाना शेष नहीं है, उसी में जगत् के प्रति उदारता और जगत्पति के प्रति प्रियता की जागृति होती है।

मानव का निर्माण उसके रचयिता ने साधन-निधि से सम्पन्न होने के लिए किया है। इसी कारण मानव को सत्संग की स्वाधीनता दी है। पर मानव मिली हुई स्वाधीनता का दुरुपयोग कर, असत् के संग से सभी के लिए अनुपयोगी हो गया है।

अनुपयोगी होने पर प्रभु की अहैतुकी कृपा से दुःख का प्रादुर्भाव होता है। जब साधक दुःख के प्रभाव से प्रभावित होकर, असत् के संग का त्याग कर, सत् का संगी हो जाता है, तब शीघ्रातिशीघ्र महा-महिम की कृपालुता उसे अपनाकर, साधन-निधि से सम्पन्न कर देती है और फिर साधक सभी के लिए उपयोगी सिद्ध होता है, यह निर्विवाद सिद्ध है।

साधक साध्य को प्राप्त करने में स्वाधीन है

यह सभी को मान्य होगा कि असत् के संग से ही मानव में अकर्त्तव्य असाधन और आसक्ति आदि विकारों का जन्म होता है। किन्तु प्राकृतिक नियमानुसार कोई भी मानव सर्वांश में असत् का संग नहीं कर पाता, इस कारण प्रत्येक मानव में आंशिक कर्त्तव्य, साधन तथा अनासक्ति रहती है। इस द्वन्द्वात्मक स्थिति में जब मानव अपने को साधक स्वीकार कर लेता है, तब सत्संगी होकर, उत्पन्न हुआ अकर्त्तव्य से रहित हो, साधन-निधि से सम्पन्न होता है।

साधन-निधि साधक की उपज नहीं है, अपितु खोज है। खोज से वही उपलब्ध होता है, जो सदैव, सर्वत्र विद्यमान है। साधन-निधि साध्य का स्वभाव है और साधक का जीवन है। इस दृष्टि से प्रत्येक साधक साधन-निधि से अभिन्न हो, साध्य को पाता है।

सेवा

* सेवा स्वार्थ को मिटा देती है।
* सेवा से पवित्रता स्वतः आ जाती है।
* सेवा से चित्त शुद्ध, स्वस्थ व प्रसन्न होता है।
* सेवा सेवक को विभु बनाती है।
* सेवक से समाज में सुन्दरता आती है।
* सेवा से सर्वतो-मुखी विकास होता है।
* सेवक में निर्वैरता स्वतः आ जाती है।
* सेवक समाज के हृदय में निवास करता है।
* कर्मवादी संसार को प्यार करता है, सेवक को संसार प्यार करता है।

शरणानन्दजी की क्रांतिकारी विचारधारा में साधक को किसी के पदचिन्हों पर नहीं चलना है, अपितु निज विवेक के प्रकाश में रहना है अर्थात् स्वाधीनता से अपनी आँखों देखना है, अपने पैरों चलना है।

विश्व-शांति, दुःख-निवृत्ति तथा मानव-कल्याण के लिये आवश्यक

मानवता के मूल सिद्धान्त

1. आत्म-निरीक्षण, अर्थात् प्राप्त विवेक के प्रकाश में अपने दोषों को देखना।
2. की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेकर सरल विश्वासपूर्वक प्रार्थना करना।
3. विचार का प्रयोग अपने पर और विश्वास का दूसरों पर, अर्थात् न्याय अपने पर और प्रेम तथा क्षमा अन्य पर।
4. जितेन्द्रियता, सेवा, भगवत् चिन्तन और सत्य की खोज द्वारा अपना निर्माण।
5. दूसरों के कर्तव्य को अपना अधिकार, दूसरों की उदारता को अपना गुण और दूसरों की निर्बलता को अपना बल, न मानना।
6. पारिवारिक तथा जातीय सम्बन्ध न होते हुए भी पारिवारिक भावना के अनुरूप ही पारस्परिक सम्बोधन तथा सद्भाव, अर्थात् कर्म की भिन्नता होने पर भी स्नेह की एकता।
7. निकटवर्ती जन-समाज की यथाशक्ति, क्रियात्मक रूप से सेवा करना।
8. शारीरिक हित की दृष्टि से आहार-विहार में संयम तथा दैनिक कार्यों में स्वावलम्बन।
9. शरीर श्रमी, मन संयमी, बुद्धि विवेकवती, हृदय अनुरागी तथा अहं को अभिमान-शून्य करके अपने को सुन्दर बनाना।
10. सिक्के से वस्तु, वस्तु से व्यक्ति, व्यक्ति से विवेक तथा विवेक से सत्य को अधिक महत्व देना।
11. व्यर्थ-चिन्तन त्याग तथा वर्तमान के सदुपयोग द्वारा भविष्य को उज्ज्वल बनाना।

(विस्तृत व्याख्याके लिए श्रीशरणानंदजी महाराजकी 'मानवताके मूल सिद्धान्त' पुस्तक देखें।)

ब्रह्मलीन श्रद्धेय स्वामीजी श्री शरणानन्दजी महाराज का अनमोल साहित्य

1. सन्त समागम भाग-1 से 3
2. सन्त वाणी भाग-1 से 8
3. प्रश्नोत्तरी (सन्त वाणी) भाग-1 व 2
4. सन्त सौरभ (सन्त वाणी)
5. सन्त उद्बोधन
6. प्रेरणा पथ
7. सन्त पत्रावली भाग-1 से 3
8. जीवन दर्शन भाग-1 व 2
9. चित्त शुद्धि भाग-1 व 2
10. जीवन पथ
11. मानव की माँग
12. मानव दर्शन
13. मूक सत्संग और नित्य योग
14. मानवता के मूल सिद्धान्त
15. सत्संग और साधन
16. साधन तत्त्व
17. साधन त्रिवेणी
18. दर्शन और नीति
19. दुःख का प्रभाव
20. मंगलमय विधान
21. जीवन विवेचन भाग-1 से 7
22. सन्त जीवन दर्पण
23. मानव सेवा संघ का परिचय
24. साधन निधि
25. पाथेय भाग-1 व 2
26. पथ प्रदीप
27. प्रार्थना तथा पद
28. मैं की खोज
29. क्रान्तिकारी सन्तवाणी
30. सन्त हृदयोद्गार
31. रजत स्मारिका
32. Ascent Triconfluent
33. A Saint's call to Mankind
34. Sadhna Spot light by a Saint
35. Revelation of the Spiritual Path
36. Pathway to Life

Published and Potential other books

1. मानवमात्र के शरणानन्दजी
2. यह नियम है कि- (हिन्दी-English)
3. Sant Hridayōdgār (हिन्दी-English)
4. Krāntikārī Santvānī
5. Prashnōttarī
6. Sant Jīvan Darpaṇ
7. Humanity's own Sharnānandji
8. **માનવમાત્રના શરણાનંદજી**
9. **સાધન નિધિ**
10. **મૂક સત્સંગ તથા નિત્યયોગ**
11. **સત્સંગ અને સાધન**
12. **દર્શન અને નીતિ**
13. **ચિત્ત-શુદ્ધિ - ભાગ 1**
14. **ચિત્ત-શુદ્ધિ - ભાગ 2**
15. **ક્રાંતિકારી સંતવાણી**
16. **સંત હૃદયોદ્ગાર**
17. तरुतले भाग-1 से 3 (जयपुर)
18. साधन-सूत्र (लखनऊ)

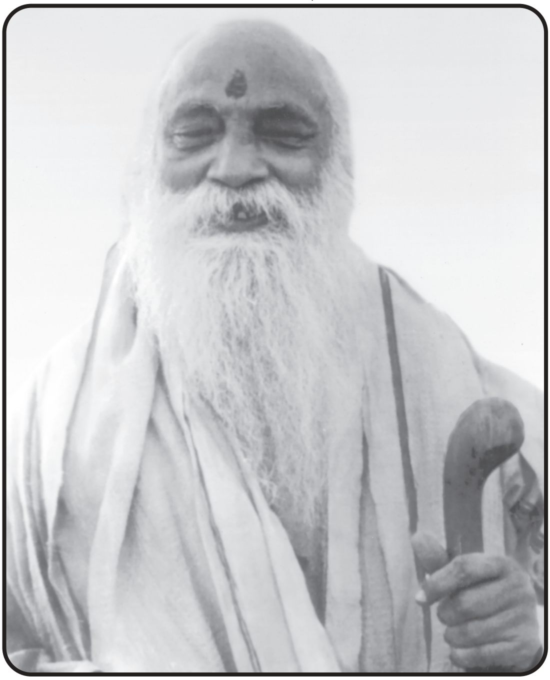

अनन्त के सखा, मानवता के मसीहा, ब्रह्मनिष्ठ, क्रान्तदर्शी, प्रज्ञा-चक्षु संत शिरोमणि

स्वामी शरणानन्दजी महाराज

स्वामीजी पुस्तकों में अपना नाम तथा चित्र प्रकाशित करने के लिए कभी अनुमति नहीं देते थे। परंतु देश, काल, परिस्थिति परिवर्तन तथा कुछ व्यावहारिक कारणों से उनका नाम तथा चित्र दिया गया है।

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी सुधामयी, सर्व-समर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी कृपा से, दुःखी प्राणियों के हृदय में त्याग का बल एवम् सुखी प्राणियों के हृदय में सेवा का बल प्रदान करें, जिससे वे सुख-दुःख के बन्धन से मुक्त हो, आपके पवित्र प्रेम का आस्वादन कर कृतकृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द ! ॐ आनन्द !

प्रार्थना आस्तिक प्राणी का जीवन है तथा साधक के विकास का अचूक उपाय है।

परमात्मा की प्राप्ति

भाव में पवित्रता हो, कार्य में कुशलता हो और लक्ष्य पर दृष्टि हो, तो प्रत्येक प्रवृत्ति से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है।

प्रभु कृपा का सहारा ही महान सहारा है।
चरित्र बल ही महान बल है।

पूर्ण जीवन

* *शरीर विश्व के काम आ जाए*
* *हृदय प्रीति से छका रहे*
* *अहम् अभिमान शून्य हो जाए*

मोहयुक्त क्षमा, क्रोधयुक्त त्याग, लोभयुक्त उदारता निरर्थक है।

निश्चिन्तता | **निर्भयता** | **प्रियता**

जो कुछ हो रहा है, वह मंगलमय विधान से हो रहा है—
ऐसा मान लेने से **निश्चिन्तता** आती है।

जो शरीर, प्राण आदि वस्तु-व्यक्ति को अपना नहीं मानता,
वह **निर्भय** हो जाता है।

'जो ''है'' (भगवान्)-वही मेरा अपना है'— इसमें जिसने आस्था स्वीकार कर ली, उसी में **प्रियता** उदित होती है।

निश्चिन्तता से **शान्ति**, निर्भयता से **स्वाधीनता** तथा प्रियता से **रस** की अभिव्यक्ति होती है। यही मानव की मांग (लक्ष्य) है।

उसे सब कुछ मिल जाता है जो किसी का बुरा नहीं चाहता है।

कार्य उसी का सिद्ध होता है, जो दूसरों के काम आता है।

www.swamisharnanandji.org

शरणानन्दजी की वाणी के प्रति 10 सन्तों के विचार

8. स्वामी रामसुखदासजी महाराज–

(नये रास्ते नयी दिशाएँ, MSS Q- A, 15.8.98, 27.5.2000, 5.5.2000, 12.11.97)

आचार्यों के मुख्य छः मत हैं–शंकराचार्य का अद्वैतवाद, रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद, निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद, वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद और चैतन्यमहाप्रभु का अचिन्त्यभेदाभेदवाद। एक शरणानन्दजी का मत है, जो सब आचार्यों से निराला है और बहुत जल्दी कल्याण करने वाला है! शरणानन्दजी की सूझ विलक्षण है! सबका जो परिणाम है, वह परिणाम उन्होंने पकड़ा है! वे सबसे आगे हैं! भगवान के शरणागत होने से शरणानन्दजी में ज्ञान का प्रवाह आ गया। उनकी वाणी में स्वतः गीता का तत्व उतर आया। उनकी बातें सम्पूर्ण शास्त्रों का अंतिम तात्पर्य है। उन्होंने जो लिखा है, उससे आगे कुछ नहीं है। शरणानन्दजी के समान मैं मानता नहीं हूँ किसी संत को। शरणानन्दजी में बहुत सरलता है, परन्तु लोग समझते नहीं। उनकी क्रान्तिकारी बातों से हलचल मच जायेगी सब शास्त्रों में, सब दर्शनोंमें।' मेरी दृष्टि में बहुत अच्छे महात्मा हैं वो, मेरी दृष्टि में तो ऐसे हैं कि सबसे श्रेष्ठ महात्मा हैं। तत्वज्ञ, जीवनमुक्त महापुरुष जो पहले हो गये, उनमें भी कोई ऐसा दीखता नहीं, ऐसे विशेष हैं। ऐसी विचित्र बातें बतायी हैं जो आदमी के कान खुल जायँ, आँख खुल जाय, होश आ जाय। शरणानन्दजी की जो बातें हैं ऐसी बातें मिलती नहीं हैं। शास्त्रों में मिलती है, तो पीछे मिलती है। उनकी बातें सुनने के बाद मिलेगी। किन्तु (पहले) मिलती ही नहीं है। और इतनी गहरी बातें हैं महाराज। बहुत विचित्र बातें है, बहुत विचित्र !! बहुत अकाट्य युक्ति दी उन्होंने, छहों दर्शन है ना उससे तेज है।

9. स्वामीनारायण सन्त रामकृष्णदासजी स्वामी, धांगधरा– (आत्मीय सभा 03-09-2017)

जिसको अपने इष्ट में असाधारण प्रीति करनी हो उसे ऋषि–परमहंस शरणानन्दजी जैसे भागवत पुरुष में प्रेम करना चाहिये। ऐसे अद्भुत अनुभवी महापुरुष भारत देश को मिले हैं लेकिन दिल में भक्ति न होने के कारण मानव उसका लाभ नहीं उठा पाता है।

10. स्वामी शरणानन्दजी महाराज– (कैसेट्स 35A, 05A)

संतवाणी (मेरी बातों) के खिलाफ बड़े–बड़े लोगों का प्रमाण मिल जाये तो भी, डर मत जाना घबराकर, अपितु बात पर विचार करना। अगर यह बात आपको मेरी बात मालूम हो तो मत मानियेगा, अपनी बात मालूम हो, वेद–वाणी मालूम हो, गुरु–वाणी मालूम हो, साधू–वाणी मालूम हो तो मान लो और ये तीनों बातें उसमें न हो तो मत मानो। यह वाणी आपको जँचे, रुचे तो अनुभव करके देख लें भाई न जँचे तो तुम्हारी मर्जी।

शरणानन्दजी का निर्वाण दिवस 25.12.1974 ऐसा चमत्कारी था कि उस दिन क्रिसमस, ईद और गीता जयंती (मोक्षदा एकादशी) एक साथ थी।

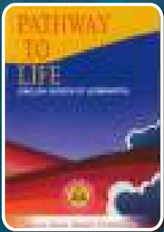

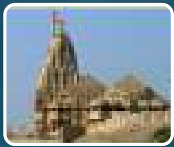
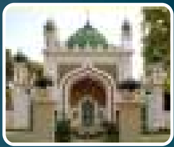
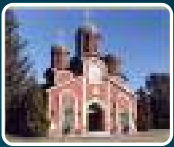
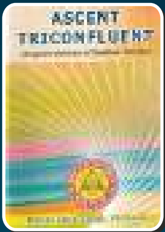

मैं तो मानव सेवा संघ के मंच को ऐसा मानता हूँ कि जहाँ पर एक अंग्रेज, एक अमेरिकन, एक रशियन, एक हिन्दू, एक बौद्ध, विभिन्न देशों, विभिन्न मतों के लोग एक साथ बैठे और जीवन के शुद्ध सत्य पर विचार कर सके- इस मंच को ऐसा सुरक्षित रखना है। **इस मंच के माध्यम से किसी एक-देशीय साधना की चर्चा कभी नहीं की जाएगी।** ... बात वह होनी चाहिये जो व्यक्तिवाद और सम्प्रदायवाद से रहित हो, जिससे हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि सभी लाभ उठा सकें !

(जीवन विवेचन - भाग 2 / पृष्ठ 42, 44)

'सर्वमान्य शुद्ध सत्य' को देश, काल, मत, वर्ग, सम्प्रदाय, मजहब का भेद छू नहीं सकता है।

'उदारता', 'स्वाधीनता', 'प्रियता'-
(सेवा, त्याग, प्रेम) का प्राप्ति स्थान है-

'साधन-निधि'